सेठ हिन्दूमल जयनारायण दानी



विरजानन्द प्रेस लाहौर

भूमिका

तिलक महाराज ने एक बार कहा था—"स्वदेशी भाषा के बिना स्वदेशी का प्रचार करना भारी ढोंग है ; जाति इससे तंग आगई है"। इस लिए यदि हम सच्चे स्वदेशी धर्म का प्रचार करना चाहते हैं तो हमें अपनी मातृभाषा को हर प्रकार से सुसम्पन्न करना आवश्यक है। राष्ट्रभाषा हिन्दी में न केवल नाटक, काव्य आदि विषयों पर ग्रन्थ होने चाहियें प्रत्युत इस में वैज्ञानिक साहित्य का भी बाहुल्य होना ज़रूरी है।

प्रस्तुत भारतीय अर्थशास्त्र की पुस्तक इसी उद्देश्य को सन्मुख रख कर लिखी गई है। इस में कई त्रुटियां होंगी क्योंकि एक तो पारिभाषिक शब्दों का अभाव है। हमें कई शब्द ऐसे घड़ने पड़े हैं जिनको साधारण आदमी कभी सुनता तक नहीं ; ये शब्द उसे बिलकुल अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। दूसरी बाधा, जो हम अंगरेज़ी में भी भारत की आर्थिक समस्याओं पर लिखते समय पेश आती है, वह अर्थ-शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों का अभाव है। हमें प्रायः सारी सामग्री सरकारी रिपोर्टों से मिलती है। और यह या तो पक्षपातपूर्ण होती है या इसमें विचार ही अधूरा होता है। अन्य पुस्तकें भी मिलती हैं परन्तु कुछ एक को छोड़ कर वे सब अंगरेज़ों के ही दृष्टिकोण से लिखी गई हैं।

इस अवस्था में हमारे लिए अर्थशास्त्र पर पुस्तक लिखना केवल प्रयासमात्र है। इस पुस्तक में पहले हमने अर्थशास्त्र के मोटे मोटे सिद्धान्त यथाशक्य सरल भाषा में देने का प्रयत्न किया है। और फिर हम ने भारतीय दृष्टान्त और भारतीय बातें देकर उनका विवेचन किया है। कई अर्थशास्त्र सम्बन्धी बातों पर हमने विचार ही नहीं किया क्योंकि हम साधारण पाठकों के लिए उन्हें अनावश्यक समझते थे और उन पर विचार करना विषय को व्यर्थ ही

जटिल बनाना था। जहांतक हो सका है हमने पुस्तक में भारतीय दृष्टिकोण से विचार किया है।

लेखकों के पञ्जाबी होने से भाषा की कई अशुद्धियां होंगी। इसके लिए हम विवश हैं। पुस्तक के कई विषय दोनों लेखकों ने अलग अलग लिखे हैं इस कारण सम्भव है कहीं क्रमभंग-दोष भी होगया हो। आशा है सहृदय पाठक इन त्रुटियों के लिए क्षमा करते हुए पुस्तक का समुचित आदर करेंगे।

लाहौर,
१८ आषाढ़ १९८०

अमरनाथ बाली
मोहनलाल

पहिला भाग

पैदावार

भारतीय अर्थशास्त्र।

अर्थशास्त्र का भारतीय दृष्टिकोण।

हिंदुस्तान की आर्थिक या साम्पत्तिक अवस्था पर विचार करने से पहिले जो कठिनाई उपस्थित होती है वह यह है कि सइ अनुशीलन में हमें किसी न किसी विज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है, जिस से हम आलोचना अथवा सम्मति प्रकट करनेके लिये कोई कसौटी निश्चित करसकें। आर्थिक अध्ययनके लिये पाश्चात्य अर्थशास्त्रका आश्रय लेना बहुत आवश्यक है। बहुत सी समस्यायें हमें उन के तत्त्वों की कसौटी पर परखनी होंगी। इस से पूर्व कि हम कोई मत स्थिर कर सकें या किसी आर्थिक तत्त्व पर आलोचना कर सकें, हमें यह सिद्ध करना चाहिये कि पश्चिम के अर्थशास्त्र के सिद्धान्त भारत की परिस्थिति पर उसी प्रकार से लागु हैं जैसे कि योरुप की परिस्थिति पर। क्योंकि यदि यह सिद्ध न होसके और यदि भारत की सामाजिक, जातीय अथवा आर्थिक परिस्थिति एवम विचार पश्चिम के आदर्शों से भिन्न हों, तो इन सिद्धान्तों को भारत पर घटाना भारी भ्रम होगा। वे बातें जो पश्चिम की परिस्थिति के अनुकूल हैं, पूर्व के लिये भिन्न व परिवर्तित अवस्था में यथार्थ नहीं हो सकतीं। इस विचार को लेकर भारत के कुछ अर्थशास्त्रवेताओं का मत है कि पश्चिम के अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को भारत पर नहीं घटाना चाहिये।

इस मत पर दो प्रकार से विचार हो सकता है। पहिली बात जो कही जा सकती है वह यह है कि भारत में समाज की रचना और उद्योग-धन्दे पश्चिम के समाज की रचना और उद्योगधन्दों से सर्वथा

भिन्न हैं। अर्थात अंगरेज़ी में जिस को Industrial organisation (औद्योगिक संगठन) कहते हैं वह दोनों देशों में बिलकुल भिन्न है। उदाहरण के लिये पहिले जनसंख्या के विभाग को लीजिये। इङ्गलैंड में ७८.१ प्रति शतक जनसंख्या नगरों में वास करती है और जर्मनी में ४५.६ प्रति सैंकड़ा। परन्तु भारत के नगरों की जनसंख्या केवल ६.५ प्रति सैंकड़ा है। और यदि हम नगर की और संकुचित व्याख्या करें, अर्थात वे स्थान जहां न्यून से न्यून एक लाख आदमी रहते हों, तो भारत में केवल ३० ऐसे नगर निकलते हैं और उन सब नगरों की कुल जनसंख्या ७०७५७८२ है या कुल जनसंख्या का २.२ प्रति सैंकड़ा है। इंगलैंड में ऐसे नगरों की जनसंख्या कुल जनसंख्या का ४५ जर्मनी २१ और फ्रांस में १४ प्रति सैंकड़ा है। पेशों से भी हम इन्हीं परिणामों पर पहुंचते हैं। इंगलैंड में १६०१ की जनगणना के अनुसार जनसंख्या

५८ प्रति शतक	औद्योगिक धन्दों में
१३ ,,	व्यापार में
८ ,,	खेती में
और १४ ,,	नौकरी में लगी हुई थी।

भारत में जनसंख्या का ७१ प्रति सैंकड़ा हिस्सा खेती के काम में लगा हुआ है, और वाकी आवादी दूसरे पेशों में लगी हुई है। जिस में से केवल एक प्रति सैंकड़ा हिस्सा ऐसा है जो इस प्रकार के कारखानों और कानों इत्यादि में लगा हुआ है, जो पश्चिमी ढंग पर चलाये जाते हैं। अर्थात ३१३,४७०,०१४ की जनसंख्या में से प्रायः २२,७,०००,००० केवल कच्चे माल की पैदावार में लगे हुए हैं। और केवल ३५,३००,००० उद्योगधन्दों में लगे हुए हैं। १७,०००,००० लोगों का पेशा व्यापार है। और १०,०६१,००० सरकारी नौकरी और स्वतंत्र धन्दों में लगे हुए हैं।

इन अंकों से स्पष्ट है कि भारत के उद्योगधन्दे, जहां तक जनसंख्या के विभाग का नगरों, देहातों और भिन्न २ पेशों से

सम्बन्ध है, पश्चिम के उद्योगधन्दों से बिलकुल भिन्न हैं।

एक दो और बातें ऊपर के अंकों से स्पष्ट होती हैं:—

१. भारत कृषिप्रधान देश है और इंगलैंड व्यवसायप्रधान।

२. व्यवसायप्रधान देश होने से एक फैक्ट्री या कारखाना इंगलैंड की जनसंख्या का हमारे सामने एक छोटा सा नमूना पेश करता है। अर्थात जहां इंगलैंड में व्यवसायिक संगठन की इकाई (unit of industrial organisation) एक कारखाना है, वहां भारत की जनसंख्या का नमूना एक गांव है।

३. जहां इंगलैंड का एक कारख़ाना अपने मेम्बरों की आवश्यकतायें पूर्ण करने में अपर्याप्त है और इस लिये उसे ज़रूरत है कि वह अपनी बनी हुई चीज़ें बाहर भेजे और खाद्य पदार्थ मंगवाये, वहां भारत का एक गांव एक आत्मसंतुष्ट इकाई है अर्थात अपने मेम्बरों की सब आवश्यकताओं को पूरा करता है। और यदि इस का सम्बन्ध बाह्य संसार से कुच्छ समय के लिये तोड़ दिया जाये, तो भी इस का निर्वाह हो सकता है।

४. इंगलैएड की जनसंख्या, अधिकतर कारख़ानों में बटी हुई होने से, एक पूंजीप्रधान समाज अर्थात (Capitalist Society) और श्रमजीवियों की श्रेणी का चित्र हमारे सामने रखती है। जहां सोचने, कारख़ाना चलाने और वस्तुएं बनाने का काम भिन्न २ आदमियों के ज़िम्मे है, वहां श्रमजीवी का काम केवल नियत समय पर काम करना और वेतन लेना है। लाभ और हानि का दायित्व केवल पूंजीपतियों के कन्धों पर है।

भारत में अधिकतर जनसंख्या कृषिप्रधान है। यहां सारा काम किसान अपने परिवार की सहायता से करता है और स्वयमेव हानिलाभ का मालिक है। दूसरे शब्दों में पूंजीपति और श्रमजीवी का काम जहां विलायत में दो भिन्न व्यक्ति करते हैं वहां भारत में ये दोनों काम एक ही मनुष्य के कन्धों पर हैं।

विलायत और भारत के उद्योगधन्दों में इतने भेद होने से

विलायत की औद्योगिक परिस्थिति में उत्पन्न हुए २ अर्थशास्त्र के सिद्धान्त ऐसे लोगों के विचार में भारत पर लागु नहीं हो सकते।

इस विचार को एक और दृष्टिकोण से भी साधारणतया लोगों के सन्मुख रखा जाता है, और वह यह है कि न केवल भारत और विलायत का समाज, रचना में आर्थिक दृष्टि से, एक दूसरे से भिन्न है, परन्तु आर्थिक उद्देश्य (economic ideals) अर्थात सांसारिक दृष्टिकोण और आदर्श भी पूर्व और पश्चिम के परस्पर भिन्न हैं। जहां पश्चिमी लोग प्रकृति देवी के उपासक हैं वहां भारत-वासी अध्यात्मवादी हैं उदाहरणतया:—

१. पश्चिम वाले अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाने की चिन्ता में रहते हैं। भारतीयों का विश्वास, इस के प्रतिकूल, जीवन की आवश्यकताओं को यथाशक्य घटाना है।

२. जहां विलायत में धनोपार्जन पर अधिक ज़ोर दिया जाता है, वहां भारत का सांसारिक और नैतिक आदर्श इस बात पर निर्भर है कि धन का विभाग जाति के भिन्न २ हिस्सों में उचित और न्यायसंगत हो।

३. इसी प्रकार भारत में सम्पत्ति और पैदावार के साधन स्वतन्त्र श्रमजीवियों के हाथ में है। इस के विरुद्ध पश्चिम में सम्पत्ति और पैदावार के साधनों पर श्रमजीवियों का कोई अधिकार नहीं। इस लिये इन बातों को सन्मुख रखते हुए जब दोनों जातियों के आदर्शों में भेद है और यदि भारतीय प्रकृति देवी के उपासक नहीं तो यह कहना पड़ता है कि पश्चिम के अर्थशास्त्र के सिद्धान्त भारत पर घट नहीं सकते। अध्यापक राधाकमल मुख्योपाध्याय ने अपनी एक पुस्तक* में इस विचार का बहुत अच्छा वर्णन किया है। और पहिले दृष्टिकोण की व्याख्या न्यायाधीश रानाडे ने अच्छी प्रकार से की है। अब यदि ये दोनों दृष्टिकोण ठीक हों,

* फौंडेशन आफ इन्डियन इकनामिक्स।

तो हमें भारत की आर्थिक और साम्पत्तिक बातें लिखते समय अपने लिये भिन्न आदर्श और सिद्धान्त स्थिर करने पड़ेंगे। न केवल यही परन्तु भारत की आर्थिक उन्नति के लिये जुदा उपाय सोचने पड़ेंगे। और यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जिन साधनों द्वारा पश्चिम ने, आर्थिक दृष्टि से, आश्चर्यजनक उन्नति की है, भारत के लिये कदाचित् वे साधन हानिकारक सिद्ध हों।

हमारे विचार में इन दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों में दूसरे में अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। भारत की आर्थिक अवस्थाएं और उद्योगधन्दे योरुप के उद्योगधन्दों और आर्थिक अवस्थाओं से इतने भिन्न नहीं जितना वर्णन किया गया है। और न ही आर्थिक आदर्श में पूर्व और पश्चिम में इतना अंतर है जितना कि ऊपर वर्णन किया गया है। पहिला आक्षेप यह हो सकता है कि ६० या ७० वर्ष पहिले यह बात ठीक हो सकती थी परन्तु अब इस में बहुत कम सच्चाई है। उदाहरण के लिये आजकल देहात की अलहदा ज़िन्दगी की, बिलकुल नहीं तो कम से कम बहुत हद तक, समाप्ति होगई है। प्रत्येक ग्राम अपनी जीवन की दैनिक आवश्यकताओं के लिये नगरों पर ही नहीं प्रत्युत दूसरे देशों पर भी अवलम्बित हो रहा है।

मिट्टी का तेल, दिया सलाई, सूई डोरा, हल के फाले, साबुन, जूतियां, छाते, कपड़े इत्यादि अगणित वस्तुएं बाहर से आती हैं। और उनकी प्राप्ति में यदि कमी वा रुकावट हो, तो गांव वालों को अब उतना ही कष्ट होता है जितना पश्चिम में एक कारख़ाने में काम करने वालों को यदि उन को नगरों से अलहदा कर दिया जाय।

पहिले परम्परागत प्रथा (Customs and usages) के अनुसार मूल्य (Price) और मज़दूरी (Wages) का निर्धारण होता था। आज उसका स्थान मुक़ाबले ने ले लिया है और हर समय व्यापारिक परिस्थिति के अनुसार वे कम और ज़्यादा होते रहते हैं।

३. जहां पहिले मूल्य और वेतन अनाज में चुकाये जाते थे अब सिक्कों ने उसका स्थान ले लिया है । लोगों का और विशेष कर मज़दूरों का आवजाव (Mobility) भी देश के भिन्न २ भागों में पहिले की अपेक्षा अब बहुत बढ़ गया है । और अपनी अवस्था को सुधारने और उन्नति के लिये मज़दूर अब देहात से नगरों में और एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जाने को हर समय उद्यत रहते हैं । रेल, तार, सड़कों और डाकखानों ने इन परिवर्तित अवस्थाओं को लाने में बहुत सहायता दी है और ग़दर से पहिले का कोई सोया हुआ आदमी यदि आज अपनी नींद से उठे, तो उसके लिये भारत परिवर्तित युग से बहुत जल्दी गुज़र कर योरुप के साथ कन्धे से कन्धा मिला रहा है । और उस की साम्पत्तिक और आर्थिक उन्नति भी उसी तरह से हो रही है जिस तरह योरुप के देशों की हुई है । इस लिये आर्थिक अवस्थाओं में पूर्व और पश्चिम में कोई विशेष अन्तर नहीं । अर्थात् पाश्चात्य परिस्थिति में बने हुए आर्थिक सिद्धान्त भारत की आर्थिक अवस्थाओं को समझने के लिये भी उतने ही लाभदायक और आवश्यक हैं जितने कि पश्चिमी देशों की अवस्थाओं को समझने के लिये ।

अब हमें सांसारिक आदर्श और दृष्टिकोण पर विचार करना है । हमारे मत में इस में; पहिले दृष्टिकोण की अपेक्षा भी, कम सचाई है, यद्यपि बच्चों से लेकर बूढ़ों और पठित समाज के मन में यह विचार समा रहा है । प्रायः रोज़ समाचारपत्रों और व्याख्यानों में यह बात ज़ोर से कही जाती है कि योरुप वाले टकापंथी हैं और भारतवासी आध्यात्मवादी—जबकि बहुत से सज्जन, जो ऐसी बातें मुंह से निकालते हैं, इन के भावार्थ को भी कदाचित् नहीं समझते । भौतिकवाद (Materialism) से यदि धनोपार्जन करना ही अभिप्रेत है, तो भारतवासी उतने ही भौतिकवादी हैं जितने पश्चिम वाले । भारत का औसत आदमी अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाने के लिये, यदि उस के पास साधन

हो, उतना ही इच्छुक है जितना कि एक अंगरेज़। धनसंग्रह करने में जो कष्ट होते हैं, उनको दूर करने में एक औसत अंगरेज की तरह वह भी अपने सामर्थ्य से बढ़कर काम करने को तैय्यार हो जाता है। यद्यपि यह बात दूसरी है कि सदियों की दासता से और राजनैतिक अवस्थायें प्रतिकूल होने से उसमें एक अंगरेज़ जैसा उत्साह और साहस नहीं रहा, भारत का साहुकार, पूंजिपति, श्रमजीवि, डाक्टर, व्यापारी और किसान पश्चिमी देशों के साहुकार, पूंजीपति, श्रमजीवि, डाक्टर, व्यापारी, और किसान से हरगिज़ अपने विचार, भाव और इच्छाओं में जुदा नहीं। भारत में कितने आदमी ऐसे होंगे जिन को धनसंग्रह करने का अवसर मिले और वे उस से लाभ न उठायें ? और क्या ऐसे आदमियों की योरुप में कमी है ? म० गान्धी जैसे आत्मत्यागी मनुष्य यदि भारत में हैं तो क्या योरुप में ऐसे आदमियों की कमी है, जो दिन रात ईश्वर के पुत्रों की सेवा में लगे हुए हैं ? माना कि ऐसे सज्जनों की भारत में बहुतायत है, परन्तु क्या ऐसे संयमी और तपस्वी पुरुषों के विद्यमान होने से संम्पूर्ण जाति को तपस्वी कहा जा सकता है ? ये लोग व्यक्तिगत रूप से अच्छे हैं परन्तु हमें समुदाय में परिवर्तित जाति या औसत भारतवासी का अध्ययन करना है और जब हम इस तरह अध्यायन और तुलना करते हैं, तो हमें बहुत थोड़ा भेद प्रतीत होता है।

इस लिये यह कहा जा सकता है कि प्रकृति-पूजा (Material worship) इत्यादि शब्द, जिन का प्रयोग प्रतिदिन किया जाता है, बहुत हद तक या तो पूर्व और पश्चिम दोनों के लिये ठीक हैं या दोनों के लिये ग़लत। कम से कम व्यवहारिक जीवन में भारत और विलायत के सांसारिक उद्देशों में कोई भेद नहीं। मुंह से हम जितनी इच्छा हो कहलें, पर वास्तव में मनुष्य का स्वभाव सम्पूर्ण संसार में समान है। भाव और इच्छायें भिन्न नहीं हैं और सांसारिक धन्दों के उद्देश्य भी वही हैं। अपनी साम्पत्तिक अवस्था को अच्छा बनाने की भारत में लोगों की उतनी ही प्रबल इच्छा है जितनी कि विलायत

में। और यदि भारत में अधिकतर आबादी की आवश्कतायें परिमित हैं और जीवन सादा है तो इसका कारण लोगों की दरिद्रता और देश की ग़रीबी है न कि आत्मत्याग। बाक़ी प्रश्न यह रहा कि भारत में धन की उत्पत्ति (Production of wealth) की अपेक्षा धन के विभाग पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। सो इस में भी बहुत कम सच्चाई है। भिन्न २ श्रेणियों में धन का बटवारा (Distribution) यहां भी उतना ही अन्यायपूर्ण है जितना कि पश्चिम में। पूंजीपति का श्रमजीवि के साथ, ज़िमींदार का रैय्यत के साथ और स्वामी का नौकर के साथ वैसा ही बुरा व्यवहार है जैसे कि पश्चिम में। और अमीर लोग ग़रीबों का खून यहां उसी प्रकार से चूसते हैं जैसा पश्चिम में।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि भारत और पश्चिमी देशों के औद्योगिक संगठन और औद्योगिक आदर्शों में बहुत कम भेद है। इस लिये भारत की आर्थिक अवस्था को समझने, दरिद्रता और ग़रीबी को दूर करने और भावी उन्नति और धनप्राप्ति के लिये, उपायों के सोचने और उन्हें उपयोग में लाने में, हमें भी उन्हीं सिद्धान्तों को काम में लाना पड़ेगा जिन का वर्णन अर्थशास्त्र करता है। और जिन सिद्धान्तों पर चल कर पश्चिम ने आर्थिक दृष्टि से इतनी आश्चर्यजनक उन्नति की है हमें भी उसी मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा। यद्यपि ऐसा करते समय हमें हिन्दुस्तान की खास अवस्था को भूल जाना अनुचित होगा।



विषय-प्रवेश ।

किसी भौतिक पदार्थ (Material thing) को बनाने के लिये चार चीज़ों की आवश्यकता होती है जिन को पैदावार के साधन कहते हैं । उदाहरण के लिये एक मकान बनाने को लीजिये। सब से पहिले मिट्टी, चूना, सुरखी, लकड़ी और कुछ लोहे की आवश्यकता होती है । इन वस्तुओं के बिना मकान बनाने का विचार करना ही व्यर्थ है । परन्तु ये वस्तुएं प्रकृति की ओर से मनुष्य को मुफ़त मिली हैं, और जिस रूप में प्रकृति ने उनको हमें दिया है उस रूप में मकान के बनाने में वे अधिक उपयोगी भी नहीं हैं । मिट्टी को जब तक खोद कर, लादकर, जिस स्थान पर मकान बनाना हो वहां न लाया जावे, वह हमारे किसी काम की नहीं। फिर आवश्यकता है कि लकड़ी की कांटछांट की जाय और आवश्यकतानुसार दरवाज़ों, खिड़कियों और शहतीरों के रूप में उसे लाया जावे। अब इन सारे कामों के लिये मनुष्य के परिश्रम की आवश्यकता है। इस लिये जहां प्रकृति की ओर से प्राप्त हुई २ वस्तुओं को धन पैदा करने का पहिला साधन कहेंगे, वहां श्रम को दूसरा। कई बार अंगरेज़ लेखक पहिले साधन को ज़मीन कहते हैं । परन्तु ज़मीन से अभिप्राय उन सब चीज़ों से है जो कच्ची अवस्था में मनुष्य को मुफ़त मिलती हैं और जिन का प्रयोग वह करता है, जैसे नदी, समुद्र, ज़मीन, जंगल, झीलें, अग्नि, वायु, पानी, धातु इत्यादि ।

अब यदि केवल मज़दूरी और कच्चा माल, मिट्टी इत्यादि ही, हमें मिले तब भी मकान बनाना कठिन है । मिट्टी की ईंटें बनाने के लिये सांचों की आवश्यकता है। लोहे से आरा और दूसरे हथियारों को बनाने की ज़रूरत है। वृक्षों की छालों से रस्से पहिले बनाने चाहियें। जब ये चीज़ें हों तब इन की सहायता से

हम कच्चे माल को प्राकृतिक अवस्था से उपयोगी अवस्था में ला सकते हैं। सांचे, हथियार, रस्से इत्यादि प्रत्यक्ष रूप से मकान वनाने के काम नहीं आते। वे ऐसा धन हैं जिन को साधन के तौर पर और धन पैदा करने के काम में लाया जाता है; जैसे मकान वनाना इत्यादि। ऐसी चीज़ो को या ऐसे धन को पुंजी कहते हैं। इस लिये यह सिद्ध हुआ कि मकान वनाने के लिये एक तीसरे साधन, पूंजी की आवश्यकता है।

परन्तु ज़मीन, पूंजी और श्रम तीनों के होते हुए भी एक इंजीनियर की आवश्यकता रहती है जो अपने दिमाग़ में मकान का एक पूर्ण चित्र तय्यार करे, और इस वात का निर्णय करे कि मसाला कितना चाहिये, मज़दूर कितने चाहियें और पूंजी कितनी लगेगी। और यह भी देखे कि इन तीनों साधनों (Factors) को ठीक परिमाण (Proper proportion) में काम में लाया जा रहा है या नहीं। इंजीनियर यदि न हो, तो श्रमजीवि पूंजी की सहायता से ईंट, पत्थर, लकड़ी, और लोहे के ढेर तो लगा देगें, परन्तु ठीक तौर पर मकान नहीं वन सकेगा। इस लिये एक मकान के वनाने में इन चारों चीज़ों की आवश्यकता है। केवल मकान ही नहीं परन्तु हर एक भौतिक पदार्थ (Material thing) की पैदावार में देश में धन की वृद्धि के लिये इन चारों साधनों का होना आवश्यक है। ज़मीन, पूंजी, श्रम और इंजीनियर जो सारे काम की ज़िम्मेवारी अपने कन्धों पर ले। ऐसे व्यक्ति को अर्थशास्त्र में व्यवस्थापक कहते हैं और कई वार पैदावार के इस साधन को संगठन (Organisation) ही कहा जाता है।

किसी देश का धन इन चारों साधनों पर अवलम्बित है और उन के न्यूनाधिक होने पर उस देश का धन कम या ज़्यादा होता है। जिस देश में इन साधनों का वाहुल्य है वहां के निवासी ऐश्वर्यशाली और देश सुखी होगा। जहां उनकी कमी है वहां दरिद्रता घर वनाये रखेगी। इन चारों साधनों

के ठीक परिमाण में होने से देश उन्नति कर सकता है—किसी एक से नहीं। इंगलैंड में श्रमजीवि चुस्त और होशियार हैं और पूंजी भी पर्याप्त है। संगठन भी उन का बहुत अच्छा है। परन्तु सिवाय कोयला, लोहा, और कुछ और धातुओं के प्राकृतिक पदार्थों की भारत की अपेक्षा कमी है। परन्तु ब्रिटेन का विस्तृत साम्राज्य इस न्यूनता को दूर कर देता है। संयुक्त राज्य अमेरीका इन चारों चीज़ों में बढ़ा हुआ है। उस की प्राकृतिक सम्पत्ति की कोई सीमा नहीं। श्रम और पूंजी की कमी नहीं। अमेरीका के पुतलीघरों के स्वामी संगठन-शक्ति में भी किसी से पीछे नहीं। यही कारण है कि अमेरीका संसार भर में व्यापार और उद्योगधन्दों में इतना बढ़ा चढ़ा है।

भारत की पैदावार–कृषि विषयक और औद्योगिक (Agricultural and industrial) का अध्ययन करने के पहिले इन चारों साधनों का जिन पर देश की वर्तमान सम्पत्ति, पैदावार, और भावी उन्नति अवलम्बित है अनुशीलन करना अत्यावश्यक है। इस अनुशीलन से वे कारण स्पष्ट हो जायेंगे जो भारत की आर्थिक उन्नति में बाधक हैं, और जिन को दूर करने से हमारे देश की दरिद्रता और ग़रीबी का निश्चित इलाज हो सकता है।



भारत की भौतिक सम्पत्ति।

ब्रिटिश भारत का कुल क्षेत्रफल ८६३,६०० वर्गमील है। यह कई प्रकार की भूमि में इस तरह बटा हुआ है।

भूमि	क्षेत्रफल
१ भूमि जहां खेती होती है। ...	३८२,६७५ वर्गमील
२ भूमि जो खेती के योग्य तो है परन्तु जिस में खेती नहीं होती।... ...	...१६१,३५१ "
३ जंगल	...१०४०८८ "
४ बंजर	...२१५१८६ "

बर्मा को मिला कर भारत का कुल क्षेत्रफल १,७५०,००० वर्ग-मील से कुछ ऊपर है। यह रूस को छोड़ कर सारे योरुप के क्षेत्रफल से १२००० मील अधिक है। भिन्न २ प्रान्तों को लेकर यदि तुलना की जाये, तो बर्मा आस्ट्रिया हगंरी के बराबर है और बम्बई स्पेन के। संयुक्तप्रान्त, बिहार व उड़ीसा दोनों इटली से बड़े हैं। पंजाब, मद्रास, बिलोचिस्तान, मध्य प्रदेश, बरार और राजपूताना इन में से हर एक ग्रेटब्रिटेन से बड़ा है।

भौगोलिक दृष्टि से देश तीन बड़े भागों में बटा हुआ है। उत्तर की ओर १५०० मील लम्बा हिमालय पर्वत दीवार की तरह खड़ा है। राजनीतिक महत्व के अतिरिक्त यह पहाड़ आर्थिक दृष्टि से हमारी कई प्रकार से रक्षा करता है। मौसमी हवायें या वर्षा से लदी हुई वायु इस से टकर खाकर वहीं बरस जाती है। इस प्रकार उत्तर भारत के लिये जल का भण्डार एकत्रित करती है। इस की सर्वदा रहने वाली बर्फ उत्तर भारत की नदियों को अपरिमित पानी देती है जिस से वे साल भर बहती रहती हैं। हिमालय और तराई से उतर कर उत्तर भारत की विस्तृत समतल भूमि है जो १५० से ३०० मील तक

चौड़ी है। और जिस को सिन्धु गंगा और ब्रह्मपुत्र इत्यादि नदियां सींचती हैं। पूर्व की ओर यह समतल भूमि गीली और जलमय है। और पश्चिम का समतल सूखा और रेतीला होता जाता है। भारत की सब से बढ़ कर उपजाऊ भूमि उत्तर भारत में है, और प्रायः हर प्रकार की फसल बहुतायत से होती है। प्राचीन काल में आर्यावर्त इसी भाग को कहते थे। दक्षिण की ओर प्रायःद्वीप आरम्भ होता है जिसे दक्षिण भारत कहते हैं। विंध्याचल पर्वत इस को उत्तर भारत से अलग करता है। इस के पूर्व और पश्चिम की ओर पूर्वी और पश्चिमी घाट ह। यह प्रान्त उन्नत प्रदेश के रूप में है जिस की औसत ऊंचाई १५०० फुट है। सात बड़ी नदियां इस में बहती हैं जिन से कुछ गहरी वादियां बनती हैं।

उत्तर भारत के भिन्न २ भागों की भूमि भिन्न २ विशेषतायें रखती है। उत्तर दक्षिण भारत की भूमि में भी बहुत अन्तर है परन्तु एक बात जो सम्पूर्ण भारत की कृषि उपयोगी भूमि के विषय में कही जा सकती है वह यह है कि वह दूसरे देशों की अपेक्षा सूखी है, इस लिये भारतीयकृषि में सिंचाई आवश्यक होजाती है।

किसी देश की प्राकृतिक सम्पत्ति का अनुमान केवल उसकी भूमि से ही नहीं होता प्रत्युत भूमि के नीचे वाली सम्पत्ति अथवा खनिजपदार्थों से भी। सच पूछो तो आजकल संसार के भिन्न २ देशों की सम्पत्ति प्रायः भूगर्भ सम्पत्ति पर निर्भर है।

भारत की खनिज सम्पत्ति का अभी पूरा २ पता नहीं लगा, लेकिन आधुनिक पैदावार और खोज से जो पता चलता है वह यह है कि भारत इस अंश में किसी देश से पीछे नहीं। एक लेखक ने कहा है कि भारत को यदि संसार से अलग कर दिया जावे और खनिज सम्पत्ति की रक्षा विदेशियों के आक्रमणों से की जावे तो इस में कोई सन्देह नहीं कि भारत अपनी सभ्यता की सब आवश्यकताओं को स्वयमेव पूर्ण कर लेगा। परन्तु भारत के इस अंश में इतना ऐश्वर्यशाली होते हुए भी यह बात खेदजनक है कि भिन्न २ खनिज

पदार्थों की मौजूदा पैदावार निराशाजनक है जिस से देश की औद्योगिक उन्नति (Industrial progress) रुकी हुई है। वास्तव में अभी तक युरोपीयन व्यापारियों ने ही इस ओर ध्यान दिया है। और उन्होंने भी उन्हीं धातुओं को निकालना और बनाना आरम्भ किया जो देशान्तरों और इंगलैण्ड में भेजी जासकती हैं।

कोयला—कोयले की कानें अधिकतर झरिया और रानीगंज में हैं। हैदराबाद, मध्यप्रदेश रीवां राज्य, आसाम और डंडोत ज़िला झेलम में भी कोयला पाया जाता है लेकिन कम परिमाण में। कोयले की कुल पैदावार १९१९ में २२,६२८,०३७ टन और १९२० में १७,९६२,११४ टन थी जिस का मूल्य पौंड १०,११६,२५६ और पौंड ९,३८१,१६४ था।

दूसरे देशों की अपेक्षा भारत की कोयले की उपज बहुत कम है। यह बात निम्नलिखित अंकों से स्पष्ट होती है।

देश		वर्ष
इंगलैण्ड	२८७,४३०,०००	टन
जर्मनी	१९०,१०९,०००	,,
संयुक्त राज्य अमेरीका	४४०,०००,०००	,,

प्रान्तवार कोयले की पैदावार १९१९ और १९२० में इस प्रकार थी।

	१९१९	१९२०
आसाम	२९१७३४ टन	३२५५३५ टन
विलोचिस्तान	३४३२८ ,,	३३९४१ ,,
बंगाल	५७७७६३२ ,,	४२७४५२ ,,
विहार और उड़ीसा	१५११९८१२ ,,	११९७५९५९ ,,
वर्मा	१५०० ,,	... ...
मध्यभारत	४९७०२१ ,,	४९१२०५ ,,
मध्य प्रान्त	१८२१४१ ,,	१५८०९१ ,,
हैदराबाद (दक्षिण)	६६२१९६ ,,	६९४०८० ,,
पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रान्त	२० ,,	... ...
पंजाब	४६९९३ ,,	५८०७८ ,,

राजपूताना	टन १४७६०	१८२१६ टन

लोहा—अच्छी किस्म का लोहा प्रायः देश के हरेक भाग में पाया जाता है। परन्तु कहीं भी कोयले की कानों के समीप नहीं जिस से कि पूरा फायदा उठाया जा सके। सिंहभूम, बिहार प्रान्त में, लोहे की सब से बड़ी कान है यद्यपि बंगाल मध्यप्रदेश; मैसूर; बर्मा महाबलेश्वर और मालवार में भी लोहा काफ़ी परिमाण में पाया जाता है।

मिट्टी का तेल—मिट्टी का तेल अधिकतर आसाम, बर्मा और बिलोचिस्तान में पाया जाता है। जिला कोहाट सीमान्त प्रान्त में भी घटिया किस्म की कानें हैं। लेकिन मौजूदा पैदावार भारत की आश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर सकती। १९१९ में कुल तेल बर्मा, आसाम और पंजाब में ३००५,६५१,८१६ गैलन निकाला गया जिस की कुल कीमत दस रुपये फी पौंड के हिसाब से १८,२४२,०८० रुपये थी। प्रान्तवार १९१९ के पैदावार के अंक नीचे दिये जाते हैं।

बर्मा	२९३,७२८,८०७	गैलन
आसाम	११८०८९७९	"
पंजाब	११४३३०	"

नमक की सब से बड़ी कान ख्यूड़ा, पंजाब, में है। टीन हज़ारी-बाग़ और दक्षिणी बर्मा में बहुत थोड़े परिमाण में होता है। ताम्बा व सीसा बंगाल मध्यप्रदेश और दक्षिणी बर्मा में निकलता है।

भारत में अलम्यूनियम काफ़ी परिमाण में बर्मा और दक्षिण में मिलता है। अभ्रक की पैदावार सारी दुनियां की पैदावार में से आधी से ज्यादा परिमाण में यह हज़ारी बाग़ और ज़िला गया (बिहार) में होती है। मद्रास के ज़िला नेलोर में भी यह निकलती है मैंगनीज़ मध्यप्रदेश में बहुतायत से निकलता है। १९०७ में भारत की निकास संसार के सब देशों की निकास से ज्यादा थी जब कि यह ९ लाख टन से बढ़ गई। आजकल भारत

मैंगनीज़ की पैदावार में दूसरे दर्जे पर है। बम्बई, मद्रास, विज़िगापटम, हैदराबाद, बर्मा और छोटा नागपुर में यह धातु पाया जाता है। यह उल्लेखनीय बात है, कि मैंगनीज़ की निकास १८९२ के लगभग आरम्भ हुई जब कि यह कुल ६७४ टन निकाली गई थी। यह धातु सीसा का हरा रंग दूर करने और फौलाद बनाने में काम आती है। १९१९ में इस की पैदावार सिर्फ ५३७००० टन थी।

शोरा ज्यादातर बिहार में होता है परन्तु इस की पैदावार अब घटती जाती है। पोटास भारत में कम पाया जाता है।

सोना कोलर कान मैसूर में होता है। हैदराबाद और ढलभूम (बिहार) में सोने की कुछ कानें हैं। थोड़ा सा सोना भारत की नदियों में से रेत धो २ कर निकाला जाता है। १९१८ में ६४५२५३५ रुपये का सोना निकाला गया और चान्दी ४८७२४६०रुपया की। १९१९ में सोने का कुल परिमाण प्रायः ५०७२६०५७ औंस था जिस का कुलदाम १०) रुपया फी पौंड से २२५६०३९० रुपये था।

कीमती पथरों में से हीरे अधिकतर मद्रास और मध्यप्रदेश में और रूबी उत्तर बर्मा और कश्मीर में पाये जाते हैं।

बर्मा में एक नये खनिज पदार्थ मेनीबुल फरम का खोदना १९०९ में आरम्भ किया गया। १९१९ में इस की निकास ३५७७ टन थी जिस की कीमत ५३९५४४ पौंड थी। यह उत्तम कोटी की फौलाद तय्यार करने में काम आता है। संसार की पैदावार का चौथा हिस्सा बर्मा में निकलता है और भविष्य आशाजनक है।

भारत की खनिज सम्पत्ति के इस संक्षिप्त वृत्तान्त से यह स्पष्ट है कि प्रायः सब खनिज पदार्थ न्यूनाधिक परिमाण में देश के भिन्न २ प्रान्तों में पाये जाते हैं। परन्तु कुछ एक प्रान्त ऐसे हैं जिन को प्रकृति ने विशेष रूप से समृद्धिशाली बनाया है। और बाकी प्रान्त ऐसे हैं जिन की सब प्राकृतिक अवस्थायें यह ज़ाहिर करती हैं कि वे खेती बाड़ी के लिये उपयुक्त हैं। बिहार और बंगाल धातुओं के विषय में बहुत सौभाग्यवान हैं। मध्य प्रदेश, बर्मा और

दक्षिण भारत में भी खनिज सम्पत्ति बहुतायत में पायी जाती है, लेकिन उसके दबे हुए ख़ज़ानों तक अभी मनुष्य का हाथ नहीं पहुंचा ।

भारत की भौतिक सम्पत्ति बढ़ाने में नदियां भी अपना भाग लेती हैं । उत्तर भारत की सुन्दर नदियां लाखों मील ज़मीन सींचती हुई और व्यापार के लिये प्राकृतिक रास्ते बनाती हुई समुद्र में गिरती हैं । गंगा की वादी संसार की उपजाऊ वादियों में से है । और बहुत प्राचीन काल से वह व्यापार का प्रधानमार्ग (Highway) बनी हुई है । सिन्ध का इलाका सिन्धु नदी की उत्पत्ति है जैसा कि दक्षिण बंगाल या सुन्दरबन गंगा की । पूर्व बंगाल की खेती और व्यापार ब्रह्मपुत्र पर अवलम्बित है । पंजाब में नदियों का क्रम ऐसा है जैसा कि प्रकृति ने प्रान्त के लिये स्वयमेव नहरें बनाई हों । दक्षिण भारत की नदियां अधित्यका में से, एक चतुर कारीगर की तरह, काट २ कर सुन्दर वादियां बनाती हैं ।

भारत के पर्वत भी भारत की (econony) इकानामी में एक आवश्यक अंग हैं । हिमालय के विषय में हम पहिले लिख चुके हैं । दक्षिण भारत के पर्वत और भारत के विस्तृत जंगल बहुत से धन के ख़ज़ाने हैं । अनेक प्रकार की लकड़ी और आवश्यक पदार्थ उन से हमें प्राप्त होते हैं और लाखों आदमियों को रोजगार मिलता है । जलवायु की दृष्टि से भी हमारा देश मानो सारे संसार का नक़शा है ।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि भारत को भौतिक सम्पत्ति से परिपूर्ण करने में ईश्वर ने कुछ कमी नहीं की । भारत संसार के हरेक देश के साथ इस बात में मुकाबला कर सकता है । इस लिये जहां तक पैदावार के पहिले साधन या सहायक का सम्बन्ध है भारत में कोई क़मी नहीं । यदि कमी है तो यह कि मनुष्य ने भौतिक सम्पत्ती का लाभ अभी तक नहीं उठाया । और परमात्मा के बेशुमार ख़ज़ाने भारत सपूतों के हाथों की प्रतीक्षा करते हुए व्यर्थ नष्ट हो रहे हैं ।

श्रम।

भारतीय श्रम पर सामान्यतः लिखना कठिन है, क्योंकि भारत के भिन्न २ प्रान्तों में कई एक जातियों के मनुष्य हैं जिन की शारीरिक और धार्मिक विशेषतायें एक दूसरे से भिन्न हैं। स्वभाव में भी भेद है। प्रान्तिक भेद भी कुछ कम नहीं। इस लिये पंजाबी श्रमजीवि के विषय में जो मत प्रकट किया जायेगा, वह कदाचित् बम्बई के श्रमजीवि के विषय में ठीक न हो। और बंगाल का श्रमजीवि कदाचित् दोनों से भिन्न स्वाभाव का हो। तिस पर भी कुछ एक विशेषतायें ऐसी हैं जो कि भारतीय श्रमजीवियों को दूसरे देशों के श्रमजीवियों से अलग करती हैं। भारतीय और युरोपियन पुतलीघरों (mills) के मालिकों की ओर से आम तौर पर यह कहा जाता है, और बहुत से भारतीय अर्थशास्त्रवेत्ता भी ऐसा मानने लग जाते हैं, कि भारत के श्रमजीवि बहुत सुस्त और आलसी हैं। कूपमण्डूक होने का स्वभाव सम्पूर्ण भारतीय जनसंख्या का स्वभाव कहा जा सकता है। घर की आधी रोटी बाहर की सारी रोटी से अच्छी है, इस कहावत पर यदि किसी देश में आचरण किया जाता है, तो वह भारत में है। आधी रोटी तो क्या, घर में भूखा रहना भी पड़े, तो बाहर जाने की अपेक्षा ऐसा करना अच्छा समझा जाता है। इस स्वभाव के कारण यह एक विचित्र दृश्य देखने में आता है कि एक ओर तो पुतलीघरों के स्वामी चिल्ला रहे हैं कि काफ़ी श्रमजीवि नहीं मिलते और धन्दों की उन्नति नहीं होती। और दूसरी ओर कई एक प्रान्तों और ज़िलों में आबादी इतनी घनी और काम इतना थोड़ा है कि सहस्रों मनुष्य भूखे और बेकार अकाल का शिकार हो रहे हैं। यदि अपने घर की चार दीवारी से बाहर निकलना आता तो यह कठिनाई दूर हो जाती। अस्तु, यह हर्षसूचक बात है कि गत ५०, ६० वर्ष से रेलों और आवजाव

के दूसरे साधन बढ़ जाने से यह स्वभाव बहुत कुछ कम हो रहा है। और भारतीय श्रमजीवि न केवल एक दूसरे प्रान्त में आने जाने लग पड़े हैं, प्रत्युत भारत के बाहर भी उन्हों ने पर्याप्त संख्या में जाना आरम्भ कर दिया है। पंजाब, सिन्ध, मद्रास, उड़ीसा वा संयुक्त प्रान्त के पूर्वी ज़िलों के लोग इस बात में विशेष तौर पर बढ़े हुए हैं।

भारतीय श्रमजीवि का दूसरा स्वभाव उस की गांव में रहने की उत्कट इच्छा है। नगरों की तङ्ग और अंधेरी गलियाँ और गन्दे सड़े मकान, जो कारखानेदार अपने श्रमजीवियों को रहने के लिये देते हैं, उनके लिये कुछ जादू नहीं रखते। प्रायः यह देखा जाता है कि कुछ वर्ष किसी पुतलीघर में रह कर और अच्छी कारीगरी सीख कर, श्रमजीवि फिर अपने गांव को लौट जाता है और खेती करना आरम्भ कर देता है। इस से उस की सीखी हुई कारीगरी देश के लिये व्यर्थ जाती है। चुप चाप फ़सल के अवसर पर अपने घरों को भाग जाना और एक दो मास के बाद वापिस शहर में आ जाना भारतीय श्रमजीवियों के लिये साधारण बात है। पुतलीघरों के स्वामी ही जानते हैं कि यह तानापेटा औद्योगधन्दों के लिये कितना हानिप्रद है।

तीसरी कमज़ोरी भारतीय श्रमजीवि में उमंग का अभाव या कमी है जो उस को अपने भाग्य पर संतुष्ट रखती है। बम्बई के पुतलीघरों में काम करने वाले श्रमजीवि जब कुछ थोड़ा सा रुपया जोड़ने में सफलीभूत हो जाते हैं, तुरन्त गांव लौट जाते हैं। उन के मन में उन्नति की आकांक्षा भी पैदा नहीं होती। इन न्यूनताओं के कारण भारतीय श्रमजीवि की विलातय के श्रमजीवियों के साथ तुलना नहीं होसकती। योरुप वा अमेरीका में एक श्रमजीवि का औसत दिन का काम भारत के श्रमजीवि के औसत दिन के काम से ड्योढ़े से लेकर तीन गुना तक है। उदाहरण के लिये लंकाशायर में एक जुलाहा छैः करघों की देखभाल कर सकता है और

भारतीय जुलाहा केवल एक करघे की। लंकाशायर में एक श्रम-जीवि की धागा की वार्षिक औसत पैदावार ७७३६ गज़ है और भारत में ३७०० गज़। एक श्रमजीवि लंकाशायर में ३७७४० और भारत में १४००० गज़ कपड़ा बुनता है। इसी प्रकार भारतीय श्रमजीवि एक दिन में आधा टन कोयला निकालता है, इंगलैण्ड का श्रमजीवि अढ़ाई टन और अमेरीका का श्रमजीवि ५ टन। जापान में जहां एक श्रमजीवि वार्षिक कोयला १५८ टन निकालता है, वहां भारतीय श्रमजीवि केवल ११६ टन निकालता है। १६०४ में भारतीय श्रमजीवि केवल ८६ टन वार्षिक निकालता था।

भारतीय श्रमजीवि के सामान्य चाल चलन और वर्ताव पर आपत्ति करते हुए हमें यह वात भूल नहीं जानी चाहिये कि कई एक अंशों में भारतीय श्रमजीवियों का दर्जा संसार भर के श्रमजीवियों से ऊंचा है। शराव और जुआ इत्यादि की आदतें साधारण तौर पर भारतीय श्रमजीवि में नहीं पाई जातीं, यद्यपि योरुप के श्रमजीविवर्ग में शरावख़ोरी और जुआवाज़ी साधारण वातें हैं। दयानतदारी में भी भारतीय श्रमजीवि उन से वढ़कर है। परिश्रम व दौड़धूप में भारतीय श्रमजीवि की विशेष कर खेती में, दूसरा कोई वरावरी नहीं कर सकता। परन्तु पुतली-घर में फ़ैक्टरी सिस्टम के अनुसार काम करते हुए वह उस फूल न्याईं मुरझा जाता है जिस को उस के जंगली निवासस्थान से नगर की तंग और अंधेरी गली में लाया जाता है।

इस में भी कुछ अंश तक सच्चाई है कि भारत की अत्यन्त गर्मी निरन्तर श्रम नहीं करने देती और जवानी और वुढ़ापा लोगों को शीघ्र आ घेरता है। इतिहास भी इस कथन की पुष्टि करता है कि पश्चिम से जव कोई आक्रमणकर्ता आया है उस ने आसानी से लोगों को अधीन कर लिया है। अंगरेज़ यदि यहां की गर्मी इत्यादि के वलहीन करने वाले प्रभावों से अभी तक वचे हुए हैं, तो इस का कारण किसी अंश तक यह है कि वे भारत में रहते हुए भी अपना

पोहेरावा और खुराक इसप्रकार रखते जैसे मानों वे विलायतमें ही रहते हैं।

भारतीय श्रमजीवि की व्यक्तिगत आवश्यकतायें बहुत कम हैं। उस ने अपने खर्च और रहने के ढंग (standard of living) को इतना नीचा किया हुआ है कि उस की पूरी शारीरिक और मांसिक पुष्टि नहीं होसकती। और थोड़े से परिश्रम से वह अपनी मामूली आवश्यकताओं को पूरा कर लेता है। इस से वह अपने भाग्य से संतुष्ट रहता है। उस में ज़्यादा कमाने और अपने आप को ऊंचे दर्जे पर लेजाने का प्रलोभन व साहस पैदा ही नहीं होता। जहां ये बातें निराशाजनक है, और इनके दूर करने के लिये हमें भारतीय श्रमजीवि को शिक्षाद्वारा आत्मविश्वासी और उन्नतशील बनाने का प्रयत्न करना चाहिये, वहां हमें यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि पुतली घरों के मालिकों की श्रमजीविवर्ग के विषय में ऐसी शिकायतें बहुत अंशों में निर्मूल हैं। माना कि मज़दूरी नगरों और कारखानों में ज़्यादा मिलती है। परन्तु वास्तविक मज़दूरी की गणना करते हुए हमें केवल रुपये का विचार ही नहीं करना चाहिये प्रत्युत रहन सहन और परिस्थिति को भी ध्यान में रखना चाहिये। अब एक ओर तो गन्दे सड़े मकान जहां कठिनता से श्वास लेने को वायु मिलती है, नगर की महंगी चीज़ें और उस पर खूबी यह कि दस ग्यारह घन्टे लगातार कठोर और नीरस काम करना हो, और दूसरी ओर गांव की खुली जलवायु, यारों दोस्तों में रहना, खाने और पीने का कम खर्च और ईंधन मकान इत्यादि मुफ़्त हों, तो क्या भारतीय श्रमजीवि का इन अवस्थाओं में पुतलीघरों में आयु पर्यन्त सड़ने से इन्कार कर देना आश्चर्यजनक बात है? एक अर्थशास्त्रवेता ने इसे आत्म रक्षा का भाव कहा है। और इस में बहुत अंश तक सच्चाई है। यदि भारतीय श्रमजीवि कीटपतंगों के समान बम्बई के चाल और हुगली के किनारे गंदी सड़ी झोपड़ियों में मरना नहीं चाहते, तो उनका वर्ष के पश्चात् छैः महीने के लिये अपने गांव में भाग जाना और अपनी शारीरिक और मांसिक उन्नति करना अत्यवश्यक है। श्रम-

जीवियों पर दोषारोपण करने से पहिले हमें पुतलीघरों के स्वामियों और पूंजीपतियों के सुधार की ओर ध्यान देना चाहिये। ताकि वे अपनी असीम सम्पत्ति में से कुछ हिस्सा श्रमजीवियों की भलाई और उन्नति में लगायें। पुतलीघरों के जीवन को मनोरंजक बनाना चाहिये, जिस से वास्तविक मज़दूरी या जीवन के सुख गांव की अपेक्षा नगर में ज्यादा मिल सकें।

इंगलैण्ड में औद्योगिक उन्नति का युग सोलहवींसदी से आरम्भ हुआ जब कि वहां के भूमिलोलुप ज़िमीदारों ने बलपूर्वक छोटे २ किसानों को ज़मीन से वंचित करना आरम्भ किया था। उन का ऐसा करने का उद्देश यह था कि कृषिउपयोगी भूमि को बड़ी २ चारागाहों में तबदील करके वे वहां भेड़ें और बकरियां रख सकें, क्योंकि उन दिनों में ऊन के व्यापार और उद्योगधन्दे में खेती की अपेक्षा अधिक लाभ होता था। परिणाम यह हुआ कि किसान, जीवन के एकमात्र साधन से वंचित होकर, शहरों में भाग गये। जहां कारखानों में मज़दूरी करके वे कठिनता से निर्वाह करने लगे। औद्योगिक परिवर्तन इसी समय के लगभग आरम्भ होता है जब कि अविष्कार होने लगे जिन्होंने इंगलैंड और अन्य देशों को अन्त में कृषिप्रधान देशों से व्यवसायप्रधान देश बनाया। शहरों में भागे हुए मज़दूरों के लिये गांव में कोई प्रलोभन न रहा। इस लिये वे शहरों में ही गन्दी सड़ी झोपड़ियों में घर बनाकर रहने लगे। इस प्रकार इंगलैंण्ड की औद्योगिक उन्नति का आधार वहां के भूमि वंचित श्रमजीवि हैं। भारत की अवस्था भिन्न है। यद्यपि यहां के श्रमजीवि दरिद्र और साधन रहित हैं और विलायत के श्रमजीवियों से गरीबी में किसी प्रकार कम नहीं, तथापि उन में से बहुत से जमीन के कुछ न कुछ टुकड़े के स्वामी हैं या देहात में अपने मकान रखते हैं, जिन का मोह उन्हें नगरों में सर्वदा के लिये रहने नहीं देता। इस प्रकार वे नगरों और गांवों में तानापेटा करते रहते हैं।

इस लिये पैदावार का जहां तक दूसरे साधन (Factor) से

सम्बन्ध है, यद्यपि वर्तमान स्थिति संतोषप्रद नहीं परन्तु भविष्य उज्ज्वल है। और अल्पकालिक दोष दूर हो सकते हैं, जिन के दूर होने से एक भारतीय श्रमजीवी संसार के किसी श्रमजीवि से साहस, परिश्रम और उत्साह में कम नहीं रहेगा। जनसंख्या का ज़्यादा होना भी इस अंश में भारत को कई प्रकार के उद्योगधन्दे चलाने में सहायक हो सकता है। श्रमजीवियों की कमी के विषय में जो शिकायत दूसरे देशों में है, जो और उनकी भावी उन्नति को परिमित करती है, वह भारत में नहीं हो सकती। यह बृहद् श्रमशक्ति भारत की भावी औद्योगिक उन्नति के लिये बहुमूल्य सम्पत्ति है।

धन्देवार भारतीय जन संख्या का विभाग १९११ की जनगणना के अनुसार इस प्रकार था।

धन्दा	प्रति सैकड़ा
खेती	७२
उद्योगधन्दे	११.
व्यापार	५.६
बारबरदारी	१.६
पढ़ना लिखना	१.७
घरेलु नौकरी	१.५
सरकारी नौकरी	.८४
सरकारी फौज	.७७
कानों में काम करने वाले	.१७
मिश्रित	४.१७

श्रम के योग्य जनसंख्या, अर्थात् १५ और ६० वर्ष की आयु के बीच वाली जनसंख्या, १७ करोड़ अथवा ५३ प्रति सैकड़ा थी। और यदि हम उनमें से अशक्त, रोगी और स्त्रियों को निकाल दें (क्योंकि स्त्रियां पर्दा के कारण और जातपात के बन्धनों से देश के श्रमजीवियों की संख्या को नहीं बढ़ातीं) तो हम देश के श्रमजीवियों या श्रमशक्ति का ठीक अनुमान कर सकते हैं।

पूंजी

भारत में पूंजी का बहुत कमी है। उसकी इस कमी के कारण देशकी औद्योगिक उन्नति रुकी हुई है। हमने देखा है कि ज़मीन या प्राकृतिक सम्पत्ति में भारत किसी देश से पीछे नहीं और श्रमजीवि भी, कुछ एक अल्पकालिक कमज़ोरियों को छोड़ कर, बहुत परिश्रमी और पसीना बहानेवाले हैं। परन्तु इन दोनों से देश की सम्पत्ति बढ़ाने में सहायता भलीभांति तभी मिल सकती है जब देश में पूंजी पर्याप्त परिमाण में मिल सके, ताकि मशीनों इत्यादि द्वारा कारखाने चलाये जा सकें। साधनरहित काम करते हुए एक श्रमजीवि दिन भर में जितना पैदा कर सकता है पूंजी की सहायता से, अथवा मशीन या हथियार की सहायता से, उस से कई गुना पैदा कर सकता है। भारतीय खनक (Miner) दिन भर में पुराने ढंग के हथियारों से केवल आध टन कोयला निकाल सकता है, यद्यपि अमेरीका में एक श्रमजीवि बिजली और मशीन की सहायता से ५ टन निकालता है। इसी प्रकार प्राकृतिकसम्पत्ति भी निष्फल है जब तक की उस से लाभ न उठाया जाये। हर साल लाखों गैलन पानी पश्चिमी घाट से नीचे केवल व्यर्थ वह ही नहीं जाता प्रत्युत हानिकारक सिद्ध होता है। परन्तु बान्ध इत्यादि बनाने और मशीने लगाने से हज़ारों घोड़ों की शक्ति उत्पन्न हो सकती है जिस से सारे बम्बई प्रान्त को सस्ते दामों पर बिजली मिल सकती है और कारखाने चलाये जा सकते है।

यह बात बहुत खेदजनक है कि भारत की अब तक जो भी उन्नति हुई है वह केवल विदेशी पूंजी की सहायता से। वास्तव में भारत में साधारण लोगों में जमा करने का स्वभाव अभी तक नहीं पड़ा, और अपनी अवस्था को आर्थिकदृष्टि से उन्नत करने के लिये प्रयत्न या परिश्रम करना और भी अधिक काम है। सदियों की दासता

और विशेष कर गत एक दो सदियों की लूटमार और राजनैतिक कुप्रबन्धने, लोगों के मनों में धन संग्रह के भाव को बहुत कमज़ोर कर दिया है। धार्मिक दृष्टि से वेदान्त मत ने भी लोगों को इस ओर से कुछ कम विमुख नहीं किया। और थोड़ी बहुत पूंजी जो देश में है वह भी अधिकतर व्यापार और महाजनी में लगी हुई है या ज़मीन के नीचे गड़ी हुई है। अमीर आदमी और सम्पन्न ज़िमींदार भी जब कुछ फालतु रुपय जमा कर लेते हैं, उसे ज़मीन खरीदने में खर्च कर देते हैं, क्योंकि ज़मीन की सम्मान के चिन्हों में गणना होती है। परन्तु इस से देश की पुंजी उद्योगधन्दों से हटकर खेती में ही लग जाती है। अब तक नवीन पद्धति से, अर्थात फैक्टी प्रणालि के अनुसार, जो उद्योगधन्दे देश में चलाये गये हैं उन में से केवल कुछ एक भारत-वासियों की पूंजी से, चल रहे हैं, बाकी सब युरोपीयन पूंजी से। उदा-हरणके लिये १९१३ में सारे भारतके उद्योगधन्दों में, घरेलुधन्दों के अति-रिक्त, देशी पूंजी केवल २४; करोड़ रुपये लगी हुई थी और अंगरेज़ी पूंजी देश भर में ८३ करोड़ ६७ लाख रुपये। रेलवे की पूंजी भी, जो अधिकतर विदेशी है, ४९५ करोड़ थी। बंकों की पूंजी की हमने गणना नहीं की। इसप्रकार भारतकी वर्तमान औद्योगिक उन्नति में जहां विदेशी पूंजी ५ अरब ७८ करोड़६७ लाख रुपये लगी हुई है, वहां भारतीय पुंजी केवल २४; करोड़ थी। विदेशी पूंजी के उपयोग के हानिलाभ क्या हैं, उन पर हम आगे चलकर विस्तारपूर्वक लिखेंगे। परन्तु ऊपर लिखी अवस्था देश की उन्नति के लिये कितनी निराशाजनक है उस पर टीका टिप्पणी चढ़ाने की आवश्यकता नहीं। ज़रुरत यह है कि देशका धनिकसमाज अपने रुपये को देशकी औद्योगिक उन्नतिमें लगाना सीखे जिस से न केवल उसकी और देश की सम्पत्ति में वृद्धि होगी प्रत्युत उसके सहस्रों देश वासियों को आजीविका भी मिलजायेगी। मध्यम श्रेणी के लोगों के लिये संयुक्त मूलधन वाली कम्पनियां (Joint Stock companies) और सहयोग पद्धति (Cooperative system) अपनी थोड़ी बहुत बचत को देश की आर्थिक उन्नति में लगाने के लिये, बहुत अच्छे साधन हैं जिनकी ओर पठित समाजको अपना ध्यान देना चाहिये।

औद्योगिक नेता

जहां देश में पूंजी की कमी है, वहां ऐसे आदमियों की जो पूंजी को ठीक तौर पर उद्योग धन्दों के चलाने में लगा सकें और भी कमी है। लोग रीतिरिवाज़ के बन्धनों से इतने जकड़े हुए हैं कि किसी चीज़ को हाथ लगाने, नया काम आरम्भ करने और यहां तक कि नये विचारों को भी मन में लाने का साहस नहीं रखते। लकीर का फकीर बनना ही लोग अपना धर्म समझते हैं। धनोपार्जन के क्षेत्र में बहुत कम लोग ऐसे हैं जो कि किसी प्रकार का जोखिम उठाने को तय्यार हों।

हम मानते हैं कि एक सदी पहिले ऐसी अवस्था न थी। परन्तु इस में सन्देह नहीं कि भारतवासी स्वभाव से अनुसार होते हैं। यह लकीर के फकीर बनना और बातों में कितना ही लाभदायक हो, परन्तु आर्थिक क्षेत्र में यह देश को बहुत हानि पहुंचा रहा है। ज़ातपात के बन्धनों ने चिरकाल से लोगों को, अपनी रुची के अनुकूल, पेशा चुनने की स्वतन्त्रता से वंचित कर रखा था। इस पर पोलिटिकल चालों और पालिसी ने पिछली डेढ़ दो सदियों में मौलिकता और साहस के भाव को और भी कुचल दिया है। इस पालिसी का भयानक परिणाम हमें देश में चारों ओर दिखाई दे रहा है। युद्धकाल में और आजकल की परिस्थिति में भारतवर्ष के लिये सुअवसर है कि औद्योगिक क्षेत्र में उन्नति करने का प्रयत्न करे। उस की उन्नति इस लिये नहीं रुकी हुई कि यहां श्रम या पूंजी की कमी है, परन्तु इस लिये कि यहां औद्योगिक नेताओं का अभाव है। मनुष्यों का स्वभाव हो गया है कि हरेक क्षेत्र में वे गवर्नमेन्ट की ओर देखते हैं। ऐसा बुरा स्वभाव डालने में वर्तमान गवर्नमेन्ट और प्राचीन राजाओं महा-राजाओं ने कोई कसर बाक़ी नहीं रखी। पंजाबी कहावत "बाबा

टल पकी पकाई घल" के अनुसार स्वयम हम अपनी ज़िम्मेवारी पर काम करना नहीं चाहते।

आजकल की रीति के अनुसार जितने योग्य नवयुवक होते हैं वे सरकारी नौकरी की ओर अपना अधिक ध्यान देते हैं। बाकी स्वतंत्र विचारवाले मनुष्य, या जिन को सरकारी नौकरी नहीं मिलती, वकील अथवा बैरिस्टर बन जाते हैं। रहे सहे जिन को उनके माता पिता किसी और काम के योग्य नहीं समझते उन्हें वे व्यापार में लगा देते हैं, जिस का परिणाम यह होता है कि वे उस में कुछ उन्नति नहीं कर सकते। माना कि इस क्षेत्र में योग्य मनुष्य पाये जाते हैं, परन्तु वे इने गिने हैं। यदि कोई भारतीय कारख़ाना अथवा धन्दा सफलता पूर्वक चलकर उन्नति कर भी लेता है, तो दिक़त यह होती है कि उस के काम को निरन्तर सम्भालने वाले बहुत थोड़े पैदा होते हैं। और वह कारख़ाना व व्यापार उन्नति के स्थान पर अवनति करने लगता है। इंगलैंड और पश्चिमी देशों में रिवाज़ है कि होनहार नवयुवक को काम सिखा कर क्रमानुसार उस को उन्नति करने का अवसर दिया जाता है। अन्त में काम में उस को हिस्सेदार भी बनाया जाता है, जिस से पहिले स्वामी की मृत्यु के पश्चात दूसरा अनुभवी आदमी उस का स्थान लेने को तय्यार हो जाता है। इस प्रकार काम का क्रम जारी रहता है। यही कारण है कि अंग्रेज़ी धन्दे हर वर्ष उन्नति करते जाते हैं। और उन के कार्यक्षेत्र, साख और आमदनी में वृद्धि होती रहती है। भारतीय फर्में, अपने प्रबन्ध में, बहुत हद तक वैयक्तिक सम्पत्ति हैं। उन की स्थिति और उन्नति एक दो मनुष्यों पर अवलम्बित रहती है, जिन की अनुपस्थिति में काम रुक जाता है। आवश्यकता यह है कि भारतीय कारखानादार भी अपने अधीन लोगों को पर्याप्त वेतन और पुरस्कार देकर और चेलापद्धति (System of apprenticeship) चला कर बहुत से लोगों को क्रियात्मक अनुभव से लाभ उठाने दें। उन से न केवल उन का अपना लाभ है प्रत्युत देश का भी।

आजकल अवस्था इतनी ख़राब नहीं है जितनी कुछ साल पहिले थी; क्योंकि शिक्षित समाज ने अपना ध्यान, सरकारी नौकरियों से हटाकर, व्यापार और उद्योगधन्दों की ओर देना शुरु किया है। परन्तु अब अड़चन यह है कि जिन के पास पूंजी और फालतु रुपया है उन में उद्योगधन्दे चलाने की योग्यता नहीं, और जिन नवयुवकों में काम करने की उमंग है, और कदाचित् योग्यता भी, उनके पास पूंजी नहीं। इस से वे विवश हो और कुछ दिन बेकार रहकर, अन्त में सरकारी नौकरी के लिये हाथ पांव मारना आरम्भ कर देते हैं। कितने ही नवयुवक हैं जिन को यदि अवसर दिया जाता, तो निहायत ही सफल व्यापारी बन जाते। परन्तु अब ५० या ६० रुपये की क्लर्की में अपनी आयु खो रहे हैं। इन अवस्थाओं में संयुक्त मूलधन वाली कम्पनियों का तरीका ऐसा है जिस से हमारे नवयुवकों को अपने उत्साह और व्यापारिक योग्यता दिखाने का पूरा अवसर मिल सकता है।

अब तक जितनी औद्योगिक उन्नति देश में हुई है वह युरोपीयन कारीगरों और पूंजीपतियों द्वारा हुई है। यदि कोई उद्योगधन्दा है जिस में भारतवासियों ने अपनी योग्यता का परिचय दिया है तो वह कपड़े का है। परन्तु वहां भी आशातीत सफलता का श्रेय पारसियों को प्राप्त है।

हम ने पैदावार के साधनों पर एक २ करके विचार किया है। यह स्पष्ट है कि जहां तक प्राकृतिक सम्पत्ति और श्रम का सम्बन्ध है, भारत में किसी प्रकार की त्रुटी नहीं। और भावी औद्योगिक उन्नति के लिये नीवें पक्की हैं। परन्तु पूंजी की देश में बहुत कमी है, और औद्योगिक नेताओं की उस से भी अधिक न्यूनता है। परन्तु पैदावार के अंतिम दो साधन ऐसे हैं जिन के कम होने से केवल अल्पकालिक त्रुटियां उत्पन्न होती हैं, जिन को टेकनीकल स्कूलों और बैंकों की वृद्धि से दूर किया जा सकता है। वास्तव में मौलिक साधन प्राकृतिक सम्पत्ति और श्रम हैं। और इन में भारत कई देशों

से बढ़ाचढ़ा है। इस लिये वर्तमान अवस्था चाहे कितनी निराशा-जनक हो भविष्य उज्ज्वल है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि भारतीय पूंजीपति और व्यापारी, केवल व्यापार और दलाली को छोड़ कर, अपनी पूंजी और योग्यता को नये उद्योगधन्दों को चलाने, पैदावार के नये साधन निकालने और देश की खनिज सम्पत्ति को खोदने में लगायें। अगले दो अध्यायों में हम भारत के कृषिसम्बन्धी और औद्योगिक पदार्थों का वर्णन करेंगे।



भारतीय कृषि

भारत की विस्तृत उपजाऊ भूमि, नाना प्रकार की जलवायु और बरसाती हवायें इस कथन की पुष्टि करती हैं कि वह एक कृषिप्रधान देश है। कुल जन संख्या का लगभग २/३ हिस्सा खेती में लगा हुआ है। और देहात में रहने वाली जन संख्या का ९/१० भाग किसानी करता है। भिन्न २ प्रान्तों की जलवायु और भूमि भिन्न २ विशेषतायें रखती है। परन्तु कुछ एक बातें ऐसी हैं जो सारे देश के लिये समानरूप से कही जा सकती हैं। बरसाती हवायें, सूखी सरदी और मार्च से अक्तूबर तक सख्त गर्मी, ये भारतवर्ष के हर एक भाग की विशेषतायें हैं। जून से अक्तूबर तक वर्षाऋतु होती है। उस से फसली साल दो भागों में बट जाता है, ख़रीफ़ या सावणी और रबी या हाड़ी। खरीफ का फसल अधिकतर वर्षा पर अवलम्बित है। भारतवर्ष की भूमि दूसरे देशों की अपेक्षा सूखी है। इस लिये ज़मीन को सींचना भारतीय कृषि में आवश्यक है। कुएँ, तालाब नहरें और अन्य कई तरीके, जो मनुष्य सोच सकता है, निकाले गये हैं। परन्तु सब से बढ़कर आश्रय वर्षाऋतु पर है। समय पर वृष्टि भारतीय कृषि के लिये अन्नजल का काम करती है। वृष्टि के कम होने या न बरसने अथवा समय पर न बसरने से देश में भीषण अकाल पड़ जाता है। कई हिस्से तो ऐसे हैं जिनका गुज़ारा ही वर्षा पर है। इस लिये कहा गया है कि भारतवासियों के जीवन मानों वर्षाऋतु की बाज़ी हैं।

भारत छोटे २ किसानों का देश है, और अधिकांश किसान एक से आठ एकड़ जमीन पर खेती करते हैं। खेती के लिये पूंजी बहुत कम है और खेतों के चारों ओर बाड़ लगाने का रिवाज, सिवाय बस्ती के समीप, कहीं नहीं पाया जाता। लकड़ी का हल

जिस के आगे लोहा लगा हुआ होता है और लकड़ी ही का सुहागा, केवल ये दो औज़ार हैं जिन की सहायता से किसान खेतीवाड़ी करता है। हल और सुहागा खेंचने के लिये पशुओं से काम लिया जाता है। इन साधारण औज़ारों और पशुओं के लिये प्रायः किसानों को रुपये ऋण पर लेने पड़ते हैं। और एक वार ऋणि होने से वह सर्वदा के लिये ऋण के बोझ के नीचे दब जाता है। भारतवर्ष का जाट या किसान संसार भर के किसानों से ज़्यादा परिश्रमी और समझदार है। परन्तु अशिक्षित होने से वह अपनी परिस्थिति के कारण लाचार है। और अपने भाग्य पर संतुष्ट रहते हुए दिन काट रहा है।

दायभाग के अनुसार (जोकि हिन्दूओं का विरासत का कानून है) ज़मीन छोटे २ बराबर टुकड़ों में बट जाती है, जिन से खेती लाभकारी होने के स्थान पर हानिकारक सिद्ध होती है। इस से हर प्रकार की कृषिसम्बन्धी उन्नति रुक जाती है। सरकार का भारी लगान भी भारतीय कृषि में बाधक सिद्ध हो रहा है। यह लगान एक दरिद्र से दरिद्र किसान पर, जिस के पास शायद आध एकड़ ज़मीन है, उसी निरख से लगाया जाता है जिस से कि लाखों एकड़ के स्वामी ज़िमींदार पर। छोटे २ सरकारी अफ़सरों की घूस खाने की आदत, उनके अत्याचार, नित्य नये बन्दोबस्त के झमेले, यह सब कुछ ग़रीब किसानों को सहन करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में यह आश्चर्यजनक बात है कि भारतीय किसान अभी तक अपने बापदादा के कदम पर चलता हुआ पहिले की तरह खेती में लगा हुआ है, यद्यपि प्रतिकूल प्राकृतिक, सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों ने उसे कुचलने में कोई कसर खाली नहीं छोड़ी। कुछ थोड़े से कृषि सम्बन्धी पदार्थों का संक्षिप्त वृत्तान्त नीचे दिया जाता है।

चावल—चावल की खेती लगभग ८ करोड़ एकड़ में हर साल होती है। अर्थात भारतवर्ष के कृषिउपयोगी क्षेत्रफल के ३५ प्रति सैंकड़ा हिस्से

में चावल बोये जाते हैं। बंगाल प्रान्त में इस की खेती सबसे अधिक होती है। परन्तु निर्यात की दृष्टि से बर्मा प्रथम है। संसार की कुल चावल की पैदावार का अनुमान ९ करोड़ टन वार्षिक किया गया है, जिस में भारतवर्ष का हिस्सा ४० प्रति सैंकड़ा है। चावल में निर्यात की दृष्टि से यद्यपि भारत का दर्जा पहिला है, तथापि किसी वर्ष भी कुल पैदावार के ७ प्रति सैंकड़े से अधिक चावल बाहर नहीं भेजे जाते। युद्ध से पहिले इस निर्यात का ३७ प्रति सैंकड़ा हिस्सा योरुप को भेजा था। इस निर्यात में अधिकांश भाग बर्मा का है। जिस साल भारतवर्ष में चावल कम हों, उस साल यहां भी बर्मा से मंगाये जाते हैं। चावल की खेती का क्षेत्रफल, पैदावार और निर्यात के अंक १९१३-१४ से १९१८-१९ तक निम्नलिखित हैं।

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड़ों में)	पैदावार (टनों में)	निर्यात प्रति सैंकड़ा कुल पैदावार का
१९१३-१४	७९९०८०००	३०१३८०००	८
१९१४-१५	७७६६९०००	२८२४४०००	५½
१९१५-१६	७८६७१०००	३३२०६०००	३
१९१६-१७	८१०२००००	३५४४२०००	४½
१९१७-१८	८०६६८०००	३६५९४०००	५
१९१८-१९	७६७३४०००	२४०९५०००	८

इस के अतिरिक्त देशी रिआसतों की चावलों की पैदावार का अनुमान दस लाख टन किया गया है। ब्रिटिश भारत में फी एकड़ चावल की पैदावार १५ मन १६ सेर है, यद्यपि मिश्र और जापान की एकड़ ३० या ३१ मन के बीचे में है। चावल के निर्यात पर चुंगी तीन आना प्रति मन के दर से लगाई जाती है, जिस से भारतसरकार को १९१८-१९ में ७ लाख ४१ हज़ार पौंड आय हुई।

गेहूं—गेहुं पंजाब का प्रधान खाद्यपदार्थ है। दूसरे प्रान्तों में लोग चावल, मक्की, बाजरा और चने पर निर्वाह करते हैं। कृषिउपयोगी जमीन के १५ प्रति सैंकड़ा हिस्से में यः दो करोड़ सत्तर लाख एकड़

में, गेहूं की खेती होती है। इस में सब से अधिक क्षेत्रफल पंजाब और संयुक्त प्रान्त में है, जोकि कुल क्षेत्रफल का ३ भाग है। गेहूं की पैदावार की दृष्टि से भारतवर्ष का संसार में तीसरा दर्जा है। १९१४ के पैदावार के अंक नीचे दिये जाते हैं।

संयुक्तराज्य अमेरीका	२३८१६८८५ ...	टन
रूस	१५३२४०४७ ...	"
भारतवर्ष	८३३६४८४ ...	"
आरजनटाईन रिपब्लिक ...	४४६८२१५ ...	"
कैनेडा	४३११०१५ ...	"

गेहुं मई में इकट्ठा किया जाता है और व्यापारी उसी महीने में आमतौर पर ख़रीद कर उस का निर्यात आरम्भ कर देते हैं। क्योंकि उस ऋतु में योरुप को खुराक के लिये दूसरे देशों से गेहुं नहीं मिलता। उन में फसल ज़रा देर से तय्यार होती है। परन्तु फिर भी गेहुं का वार्षिक निर्यात कुल पैदावार से १० प्रति सैंकड़ा अधिक किसी वर्ष भी नहीं होता। अकाल के सालों में यह प्रायः दो प्रति सैंकड़ा रह जाता है। निर्यात मई से अगस्त तक जारी रहता है। उस के पश्चात उस में व्यापारियों को काफ़ी लाभ नहीं होता, क्योंकि दूसरे देशों में फसल तय्यार हो जाती है। नहरी इलाके में गेहुं की प्रति एकड़ पैदावार १५ से २० मन तक है और वर्षा के इलाके में १० मन।

जौ—१९१७-१८ में जौ की खेती का क्षेत्रफल ७० लाख एकड़ था। जयपुर, अलवर, भरतपुर और गवालियर इत्यादि रियासतों के ४ लाख एकड़ इस के अतिरिक्त थे। जौ की भारत में बहुत मांग है। इस लिये उसका निर्यात बहुत थोड़ा होता है।

मक्की जवार इत्यादि—जवार अधिकतर बम्बई, मद्रास और दक्षिण हैदराबाद के निवासियों की खुराक है। मध्य प्रदेश और संयुक्त प्रान्त में भी यह बोई जाती है। दूसरे देशों को इस का निर्यात बहुत कम है। बाजरा, जवार, मक्की और राई की खेती का कुल क्षेत्रफल १९१३-१४ में इस प्रकार था:—

अनाज			क्षेत्रफल	
बाजरा	...	...	१३३८५५००	एकड़
जवार	...	...	२१४०५४००	„
मक्की	...	...	६१६६६००	„
राई	...	...	४३७०७००	„

जवार की औसत पैदावार फी एकड़ ८ मन है।

दालें:-अनाज के पश्चात ज़्यादा आवश्यक खाद्य पदार्थों में दालों का नम्बर है। दालों की प्रधाल किस्में, अरहर, चना, मसूर, उड़द, मूंग इत्यादि हैं। दालें अधिकतर संयुक्तप्रान्त व बिहार में बोई जाती हैं। चनों की खेती संयुक्तप्रान्त, पंजाव, बिहार और मध्य प्रदेश में होती है। १९१३-१४ में भिन्न २ प्रान्तों में दालें इस प्रकार से बोई गई थीं।

प्रान्त			क्षेत्रफल	
संयुक्तप्रान्त	...	...	७००००००	एकड़
पंजाव	...	...	४०२५०००	„
बिहार	...	...	१००००००	„
मध्य प्रदेश	...	...	१००००००	„

दालों और चनों के लिये क्योंकि भारतवर्ष में ही काफ़ी मांग है, इस लिये इन का निर्यात वहुत थोड़ा होता है। १९१३-१४ में ७११००९ पौंड की दालें वाहर भेजी गईं और १९१८-१९ में केवल ४४६७४५ पौंड की। चने १९१३-१४ में ४१५१०४ पौंड के वाहर भेजे गये। युद्धकाल में, और विशेष कर १९१७-१८ व १९१८-१९ में, दालों का निर्यात वहुत ज़्यादा रहा। दोनों साल २३२८५३२ व २२३३-४१४ पौंड की दालें वाहर भेजी गईं। यह निर्यात अधिकतर भारत सरकार की ओर से युद्ध कार्यों के लिये हुआ। चनों की औसत पैदावार फी एकड़ साढ़े सात से दस मन तक है।

तेल के बीज-खाद्य पदार्थों के पश्चात भारतवर्ष की महत्त्वपूर्ण फसल तेल के बीजों की है जिन की मुख्य किस्में राई, सरसों,

तिल, एरण्ड, मुंगफली और अलसी हैं । नारियल, महुआ और बिनौलों से भी तेल निकाला जाता है। बीजों की पैदावार का अनुमान ५० लाख टन वार्षिक किया गया है, जिस की कुल कीमत लगभग ५ करोड़ पौंड होती है। यदि १९१३-१४ को औसत वर्ष समझ लिया जाये, तो बीजों का निर्यात, परिमाण और कीमत में, कुल पैदावार का तीसरा हिस्सा था । १९१३-१४ में १ करोड़ ८० लाख पौंड के तेल के बीज, खलि व तेल बाहर भेजा गया । महुआ और काले तिल के निर्यात में भारत को एकाधिकार प्राप्त है। इन की उपज भी भारत में १०० प्रति सैंकड़ा होती है। खसखस के सारी दुनियां के निर्यात में भारत का ७६/१०० हिस्सा है, राई में ६६/१००, बिनौलों में ३३/१००, अलसी में २३/१००, तिलों में ५७/१०० और नारियलों में /१००। यह बात खेदजनक है कि यद्यपि तेल व तिलों का निर्यात व्यापार बहुत ज़्यादा है परन्तु इस निर्यात में तेल का बहुत थोड़ा भाग है। उदाहरण के लिये १९१३-१४ में केवल ४ लाख पौंड का तेल बाहर भेजा गया। देश की आन्तरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में तेल की बहुत अधिक खपत है। परन्तु अभी तक तेल निकालने के लिये वही पुरानी किस्म का कोहलु वर्ता जाता है। केवल बर्मा में नये पश्चिमी तरीकों पर अंगरेज़ों ने कुछ कारखाने खोले हैं।

जूट—जूट की खेती, भारतवर्ष को छोड़ कर, और किसी देश में नहीं होती। यह भारतवर्ष में अधिकतर बंगाल, आसाम व कूचबिहार में होती है। बिहार व उड़ीसा में भी इस की थोड़ी बहुत खेती होती है। मार्च व मई के बीच में इसकी फसल बोई जाती है और जुलाई व सितम्बर में काटी जाती है। गत चालीस वर्षों में जूट की खेती और उपज में ४०० प्रति सैंकड़ा वृद्धि हुई है। १९१४ में लगभग ३३५८७००० एकड़ में जूट बोई गई थी। सब से पहिले भारतवर्ष से १७९५ में जूट बाहर भेजा गया था। परन्तु उस समय निर्यात बहुत कम परिमाण में था। १८८२-८३ के पश्चात निर्यात बहुत

बढ़ने लगा। यहां तक कि १९१३-१४ में लगभग आधी फसल अथवा ७६८४५१ टन जूट बाहर भेजा गया, जिस का कुल दाम २०५५०००० पौंड था। जूट के हर एकड़ से १५ मन रेशा निकलता है और अच्छी फसल में कई वार दुगना भी। कच्चे जूट का लगभग सारा निर्यात व्यापार अंगरेज़ों के हाथ में है।

कपास—भारतवर्ष के बहुत से हिस्सों में कपास बोई जाती है। परन्तु बम्बई, मध्यप्रान्त, बरार, हैदराबाद, मद्रास, पंजाब और संयुक्त प्रान्त में इस की खेती बहुत ज़्यादा होती है। १९१३-१४ में कपास की फसल २५०२३००० एकड़ में हुई थी और उपज ५०६५००० गट्ठे (प्रत्येक गट्ठा ५ मन का)। संसार की कपास की कुल उपज का $\frac{२५}{१००}$ हिस्सा भारत में होता है।

कपास बहुत ज़्यादा परिमाण में बाहर जाती है। गत पांच वर्षों में समग्र निर्यात का $\frac{२३}{१००}$ भाग कपास थी। १९१३-१४ में २७३६१६५५ पौंड की कपास बाहर भेजी गई। यह बात उल्लेखनीय है कि अमेरीका और मिश्र की कपास की उपज और कीमत का भारतवर्ष के निर्यात पर बहुत प्रभाव पड़ता है। क्योंकि लंकाशायर अमेरीका और मिश्र की कपास पर आश्रित है। युद्ध से यह बात भी स्पष्ट होगई है कि जापान के रुई के कारखानों को अधिकतर भारतवर्ष की कपास पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

कपास की खेती, दूसरी चीज़ों की तरह, पुराने तरीकों पर ही की जाती है। और सिवाय पंजाब व सिन्ध के दूसरे भागों में फसल अधिकतर वर्षा पर निर्भर है। इस लिये कोई आश्चर्यजनक बात नहीं कि जहां भारतवर्ष में एक एकड़ में ३७½ सेर से १ मन १० सेर तक कपास पैदा होती है, वहां अमेरीका में २ मन १० सेर और मिश्र में ४½ से ५ मन तक होती है।

नील—हिन्दुस्तान में नील की खेती बहुत प्राचीन काल से होती आई है। इसका अंग्रेजी नाम इण्डीगो इस बात का साक्षी है कि

यह पहले पहल हिन्दुस्तान से बाहर भेजा गया। १८३७ में नील की खेती और पैदावार में हिन्दुस्तान का दर्जा पहला था। किन्तु १८६७ में जर्मनी में रसायन द्वारा नील तैयार करने की विधि मालूम हो गई। और उसी वर्ष से नील के निर्यात में कमी आरम्भ हुई। १९१३-१४ में १८९५-९६ के क्षेत्रफल का दसवां हिस्सा नील की खेती में था। युद्ध काल में जर्मनी से रंग मंगाये नहीं जा सकते थे, इस लिये नील की उपज में फिर वृद्धि हुई। किन्तु यह संदिग्ध बात है कि युद्ध के उपरान्त जब जर्मनी से फिर कृत्रिम नील आने लगेगी तब भारत का नील उसका मुकाबला कर सकेगा। यह निश्चित बात है कि उसकी खेती में अवनति होगी।

पैदावार में मद्रास का भाग सबसे अधिक है। किन्तु मद्रास, पंजाब और संयुक्त प्रान्त में जो नील उत्पन्न तथा तैयार किया जाता है उस की खपत अधिकतर इन्हीं प्रान्तों में है। दूसरा दर्जा बिहार तथा उड़ीसा का है जहां कि नील की खेती अधिकतर यूरोपियन ज़मीन्दारों के हाथ में है। लेकिन निर्यात की दृष्टि से बिहार तथा उड़ीसा का ही नम्बर पहला आता है। क्योंकि वहां नील मशीनों के द्वारा अत्यन्त उत्तम विधि से तैयार किया जाता है। बिहार के नील के खेतों पर जिस प्रकार मज़दूरों के साथ दासता का व्यवहार किया जाता है उससे सभी भारतवासी अच्छी तरह परिचित हैं।

चाय और काफी—चाय की खेती तथा व्यापार बहुत बड़े प्रमाण पर होता है। १९१७-१८ में १७ करोड़ ६७ लाख रुपयों की चाय हिन्दुस्तान के बाहर भेजी गई, जो समग्र निर्यात का $\frac{१}{१०}$ भाग थी। चीन के अतिरिक्त भारत सब देशों से चाय अधिक उत्पन्न करता है। किन्तु निर्यात में उसका नम्बर प्रथम है। चाय पहले पहल चीन से भारत में लाई गई और सरकार ने उसकी खेती में बड़ी सहायता दी। निर्यात पहली बार १८३९ सन में आरम्भ हुआ। किन्तु १८६५ से ही यह फसल अपने पैरों पर खड़े रहने योग्य हुई। आसाम इस फसल का केन्द्र है। और चाय के बाग़ अधिकतर

यूरोपियन लोगों के हाथ में है । १९१६-१७ में कुल बाग, छोटे बड़े मिलाकर, सारे देश में ४४८६ थे । आसाम में ५४१ अंग्रेज़ों के हाथ में हैं और ६० हिन्दुस्तानियों के हाथ में । उत्तर भारत में निम्नलिखित ज़िलों में चाय के बाग़ हैं:—देहरादून, अल्मोड़ा, गढ़वाल, कांगड़ा, मण्डी, सरसौर ।

दक्षिण भारत में विनाद, नीलगिरी, अनामलेस और ट्रेवनकोर में चाय के बग़ीचे हैं । १९१८-१९ में खेती में कुल क्षेत्रफल ६७८५३३ एकड़ था जिस में ४०५९५१ एकड़ केवल आसाम में था। काफी के बीज पहले पहल हिन्दुस्तान में एक मुसलमान हाजी बाबा बुडन ने मैसूर में लगाये थे । इस बात को लगभग दो सदियां बीत गई हैं। १८३० में इस की खेती में नियमपूर्वक प्रयत्न आरम्भ हुआ । काफी की खेती अधिकतर अब मैसूर और मद्रास में परिमित है । किन्तु उस की खेती अवनति कर रही है, क्योंकि ब्राज़ील की सस्ती काफी का भारतीय काफी मुकाबला नहीं कर सकती । और उस के बहुत से खेतों में अब रबड़ और चाय की खेती होने लगी है। १९१९-२० में १७१००००० रुपये की काफी बाहर भेजी गई । १९१७-१८ में २१०६९४ एकड़ क्षेत्रफल में काफी बोई गई थी ।

तम्बाकू—तम्बाकू पहले पहल पुर्तगीज़ भारतवर्ष में १६०५ ई० में लाये । यद्यपि आरम्भ में मुग़ल सरकार ने उस की खेती को रोकने का हर प्रकार से प्रयत्न किया, किन्तु यह सारे देश में फैल गया। और अब सारे देश में प्रायः हरेक घर में तम्बाकू का प्रयोग होता है। और उस की खेती भारत के हरेक प्रान्त में होती है । तम्बाकू की खेती प्रधानता से तीन भागों में होती है:—

(१) पूर्वी और उत्तरी बंगाल, और बिहार के खासकर मुंगेर और रंगपुर के जिले, (२) दक्षिणभारत के त्रिचनापली, कोकानेडा, डण्डेगुल और कालीकट ज़िलों में, और (३) दक्षिण बर्मा में रंगून, अक्याब और मौलमीन के ज़िले ।

लगभग १० लाख एकड़ ज़मीन में तम्बाकू की खेती होती है। यदि सावधानी से उसकी खेती की जाय, तो फी एकड़ २½ मन से ३७½ मन तक पैदावार हो जाती है। १९१८–१९ में तम्बाकू के पत्ते ५४९००० पौंड के वाहर भेजे गये और चुरुट और सिगरेट ६३२०६ पौंड के। मुंगेर का तम्बाकू का कारख़ाना, जो कि १९०८ में जारी हुआ था, भारत में सब से वड़ा है। १९१८–१९ में वहां २०२४० लाख सिगरेट तय्यार हुए और १४४००० पौंड पीने का तम्बाकू। फौजी खर्च के लिये गवर्नमेन्ट विलायत से सिगरेट मंगवाती है। १९१९–२० तम्बाकू का आयत २०२००००० रुपये का था।

गन्ना—गन्ने का असली घर भारतवर्ष है और खेती का क्षेत्रफल यहां वाकी सब देशों की अपेक्षा अधिक है। १९१९–२० में ३०३६००० एकड़ में गन्ना वोया गया था। मद्रास की जलवायु इस के वहुत अनुकूल है। उत्तर भारत में गन्ने की अधिकतर खेती विहार और संयुक्तप्रान्त में होती है।

गवर्नमेन्ट की ओर से प्रयत्न हो रहा है कि उत्तम किस्म के गन्नों की भारत में खेती हो जिन से अच्छी खाण्ड तैयार हो सके। मद्रास प्रान्त में कोयम्वटूर ज़िले में सरकार की ओर से प्रयोगक्षेत्र (experimental farm) खोला गया है। कच्चे गुड़ की औसत पैदावार फी एकड़ भारत में १½ से ३ टन तक है, यद्यपि जावा में ३½ और हवाई में ४ टन है।

लाख और रवड़—लाख जो विशेषप्रकार के वृक्षों की शाखाओं से रस के रूप में निकलती है अधिकतर वर्मा, मध्यप्रदेश, नागपुर और छत्तीस गढ़ से आती है। कुसुम, वेर, और पलाश के पेड़ों से अच्छी किस्म की लाख प्राप्त होती है। लाख तय्यार करने के कारख़ाने विहार और संयुक्तप्रान्त में हैं। ज़िला मिर्ज़ापुर और वलरामपुर विशेष रूप से इन कारख़ानों के केन्द्र हैं। कलकत्ते में भी लाख के कारख़ाने हैं। परन्तु कुल पैदावार का अनुमान लगाना कठिन है।

जापान, फारमोसा और पूर्वअफ्रीका में लाख पैदा करने की वहुत समय से कोशिशें की गई हैं। परन्तु कहीं पर भी

सफलता प्राप्त नहीं हुई। स्याम और इण्डो चाइना में लाख की उपज भारत की उपज का केवल २½ प्रति सैकड़ा है। इस लिये कहा जा सकता है कि लाख की पैदावार में भारत संसार भर में एकाधिकारी है। १९१७-१८ में लाख २४२२५९९ पौंड की बाहर भेजी गई और १९१८-१९ में १९०३७९६ पौंड की। कच्ची लाख १९१७-१८ में ९५९३६ पौंड की और १९१८-१९ में ६१८४३ पौंड की बाहर भेजी गई। युद्ध काल में सरकार ने इस के निर्यात को नियमबद्ध करना और अपने और मित्र राष्ट्रों के लिये निश्चित दाम पर खरीदने की शर्तें लगाना आवश्यक समझा।

रबड़ भारत में अधिकतर बर्मा और आसाम से प्राप्त होता है। गत कुछ वर्षों से ट्रावनकोर, कूरग, कोचीन और मालाबार तट पर भी इस की खेती होने लगी है। रबड़ की खेती का क्षेत्रफल ४९२४७ एकड़ और उस के पेड़ों की कुल संख्या ९९८५३०५ है। संसार के अन्य देशों में रबड़ की खेती कितने क्षेत्रफल में हुई उस के अंक नीचे दिये जाते हैं।

देश	क्षेत्रफल	
लंका	२२००००	एकड़
मलाया	५०००००	एकड़
ईस्ट इण्डीज़	४०००००	एकड़
जर्मन उपनिवेश	४००००	एकड़

बर्मा में रबड़ की खेती विस्तृत प्रमाण पर हो सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि हम उसके उद्योगधन्दे को यहां चलाने का प्रयत्न करें। १९२०-२१ में १ करोड़ ५५ लाख रुपये का रबर दूसरे देशों को भेजा गया।

हम ने ऊपर भारत के कृषिसम्बन्धी पदार्थों का संक्षेप से वर्णन किया है। हमने देखा है कि जहां तक किसी देश की उन्नति का कच्चेमाल और खाद्य पदार्थों की उपज से सम्बन्ध है, भारत में किसी प्रकार की कमी नहीं। परन्तु दुःख इस बात का है कि

जितना ज़ोर हम कच्चे माल की पैदावार में लगा रहे हैं, यदि उतना ही हम उद्योग धन्दों में लगायें, तो भारत कई गुना सुखी हो सकता है। केवल एक पेशे पर निर्भर रहने से कोई देश सुखी नहीं हो सकता। उसकी उन्नति के लिये ज़रूरत है कि लोग खेती के साथ २ उद्योग धन्दों की ओर भी ध्यान दें, ताकि वे कच्चे माल से बजाये विदेशियों के स्वयमेव लाभ उठा सकें।



भारतीय उद्योगधन्दे ।

उद्योगधन्दों में आजकल भारत संसार के बहुत से देशों से पीछे है। जब उस के प्राकृतिक साधनों की बाहुल्यता और अगणित जनसंख्या का विचार किया जाता है, तो वर्तमान अवनति को देख कर बहुत दुःख होता है। परन्तु वर्तमान दुरावस्था सर्वदा से नहीं चली आती। उस समय को गुज़रे अभी बहुत दिन नहीं हुए जब उद्योगधन्दों में भी, दूसरी कलाओं की तरह, भारत का दर्जा सब देशों से ऊंचा था। प्राचीन इतिहास, यात्रियों के भ्रमणवृत्तान्त और अन्य अगणित प्रमाण इस कथन की पुष्टि करते हैं कि हिन्दुओं का समय एक औद्योगिक उन्नति का युग था। रामायण और महाभारत के पढ़ने से जो देश की अवस्था पर प्रकाश पड़ता है, उस से स्पष्ट है कि देश कितना सुखी और साधनसम्पन्न था। पुलों, पोशाकों, महलों हवाई जहाज़ों और नगरों का वर्णन इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि हर प्रकार के कला कौशल और निपुण शिल्पी देश में विद्यमान थे।

परन्तु दूर जाने की आवश्यकता नहीं और संशयात्मक वृत्ति-वालों को रामायण महाभारत के प्रमाण देने की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि बाह्य प्रमाण इस पक्ष की पुष्टि करते हैं कि ईसा के ३००० हज़ार साल पहिले भारत और बेबीलोनिया में भारतनिर्मित पदार्थों में बड़ा भारी व्यापार होता था। रोमन साम्राज्य के सम्राट् व सरदार भारतीय ज़रीदार और रुपहरी पोशाकें पहिने हुए होते थे। और साधारण लोगों के लिये सस्ता और बढ़िया कपड़ा भी भारत से वहां जाता था। मिश्र में जो ममी मिली हैं, और जिन में से कुछ ईसा से २००० साल पुरानी हैं, वे भारतीय मलमल से ढपी हुई हैं। धातुओं और विशेषकर लोहे के काम में भी भारत का दर्जा ऊंचा रहा है। देहली में लोहे की लाट, जो कम से कम १५००

साल पुरानी है, तत्कालीन लोहे के व्यवसाय की उन्नति का जीवित उदाहरण है। तलवारों के फल और बढ़िया क़िस्म का फौलाद भारत से ही बाहर जाता था।

भारत अपनी सब औद्योगिक आवश्यकतायें स्वयमेव पूरी करता था, और दूसरे देशों को भी बना हुआ माल भेजता था। मुसलमानी आक्रमण और देश में राजनीतिक अशान्ति हो जाने से देश की औद्योगिक उन्नति कुछ देर तक रुक गई। परन्तु मुग़लों के शासनकाल में भारत, पहिले की तरह, उद्योग धन्दों में फिर उन्नति करने लगा। और जब पहिले पहल युरोप वाले भारत में व्यापार करने के लिये आये, तब भारत में बना हुआ माल योरुप की मण्डियों में धड़ाधड़ जाने लगा। उस समय भारत के निर्यात और आयात व्यापार में कच्चे माल का भाग बिलकुल नहीं था सूती और रेशमी कपड़ों, कीमती पथ्थरों, हाथी दान्त व लकड़ी के बढ़िया काम और खांड के बदले भारत में कोयला, ताम्बा, टीन, सीसा और सोना चान्दी आता था। और तो और, भारत में बने हुए जहाज़ व भारतीय मल्लाह लार्ड वेलज़ली के समय तक लण्डन तक भारतीय माल लाद कर ले जाते रहे। पलासी के युद्ध के पश्चात जब अंगरेज़ों ने बंगाल की दीवानी या दूसरे शब्दों में बंगाल का वास्तविक शासन अपने हाथों में ले लिया और उन के अधिकार बढ़ गये, तब से भारत के उद्योगधन्दों की अवनति आरम्भ होती है। १६सवीं सदी के बीच तक भारत की औद्योगिक अवस्था बिलकुल बदल गई। और भारत आयात में वही माल विलायत से मंगवाने लग पड़ा जो कि थोड़े समय पहिले वह बहुत बड़े परिमाण में बाहर भेजता था, जैसे सूती कपड़ा और खांड। भारत के कपड़े के धन्दे को ऐसा धक्का लगा कि वह अब तक संभलने में नहीं आया। हमारा विदेशी व्यापार बिलकुल बदल गया है। अब हमारा निर्यात व्यापार अधिकतर कच्चे माल में और आयात विदेश में बने हुए माल का है। ऐसे आदमी, जो

देश के इतिहास से अपरिचित हैं, आजकल की अवस्था को देख कर इसी नतीजे पर पहुंचेंगे कि भारत सदा से इस असहाय्य अवस्था में रहा है। योरुप और अमेरिका जैसे सभ्य देशों की दृष्टि में भारतवर्ष आरजण्टाईन और चीन की तरह लकड़हारों और कहारों का देश है। भारत का निर्यात व्यापार, जो अधिकतर कच्चे में है, उस की अवस्था पर काफी प्रकाश डालता है। आयात व्यापार के अंक देखने से हमें उस की शोचनीय अवस्था और भी पता लग जाता है। नीचे लिखे अंक इस बात को भली भान्ति स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार हम भारत की प्राकृतिक और व्यापारिक सम्पत्ति उलीच २ कर विदेश में पहुंचा रहे हैं।

१९१३ के आयात व्यापार के अंक (रुपयों में)

कुल आयात का जोड़	बने हुए पदार्थों का आयात	कच्चे माल और खाद्य पदार्थों का आयात	औद्योगिक पदार्थों का प्रतिशतक आयात
२३४½ करोड़	२२४½ करोड़	१०½ करोड़	७६.२.

१९१३ में निर्यात २५६½ करोड़ रुपेय का था, जिस में ७२.५ प्रति सैंकड़ा कच्चा माल और खाद्यपदार्थ थे।

इन अंकों की यदि उसी वर्ष के इंगलैंड के निर्यात व्यापार से तुलना की जाये, तो हम और परिणाम पर पहुंचते हैं। पक्का माल (कपड़ा मशीनरी इत्यादि) इंगलैंड के निर्यात व्यापार का ६९.४ प्रति सैंकडा और आयात का केवल २४.३ प्रति सैंकडा था। इस से स्पष्ट है कि जहां हम अपना कच्चा माल उलीच २ कर बाहर भेजा रहे हैं, वहां हम उसी कच्चे माल को पक्के माल के रूप में मंगा रहे हैं।

भारत की औद्योगिक अवनति के कारणों पर यहां विचार करना ठीक होगा। यद्यपि इस विषय का सम्बन्ध इतिहास से है, तथापि हम यहां इतना लिख देना पर्याप्त समझते हैं कि इस अवनति का कारण इंगलैण्ड की संरक्षणार्थ चुंगी और अत्याचार नहीं थे।

हमारी अवनति का मूलकारण इंगलैंड में औद्योगिक परिवर्तन (Industual Revolution) का होना और बड़े २ कारखानों की वृद्धि था। इन कारखानों से सस्ते पदार्थ ज़्यादा परिमाण में भारत में आने आरम्भ होगये, जिन का मुकाबला भारत की घरेलु दस्तकारी से न हो सका। साधारण लोगों के फैशन और स्वभाव में भी परिवर्तन आना आरम्भ होगया। घरेलु दस्तकारी के पदार्थों की मांग बहुत कम होगई। मुग़लों और हिन्दुओं के शासनकाल में भारत के उद्योग-कुशल शिल्पियों की संरक्षा भलीभान्ति होती थी। इस से उन की वस्तुओं की बिक्री निश्चित हो जाती थी। और साधारण लोग भी उन के बने हुए माल को काम में लाते थे, परन्तु अंगरेज़ों के आगमन से यह संरक्षा बिलकुल उठ गई। और 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत के अनुसार लोगों ने भी अपने फैशन पश्चिमी ढंग पर बदल लिये। सरकार का भी १६सवीं सदी के आरम्भ से लेकर यह विशेष प्रयत्न रहा कि भारत में कच्चे माल की पैदावार को उत्तेजना दी जाये और उस के निर्यात के लिये रेलों सड़कों का एक जाल सा सारे देश में फैला दिया जाये। निर्यात व्यापार को उत्तेजित करने का स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि कच्चे माल के दामों में वृद्धि होगई। इन तेज दामों ने भारत के रहेसहे उद्योग धन्दों को भी मलियामेट कर दिया, क्योंकि जुलाहों और कारीगरों को अब खेती में अधिक लाभ दिखाई देने लगा। वे अपने २ वंशानुगत धन्दों को अन्तिम प्रणाम करके कच्चे माल और खाद्य पदार्थों की पैदावार में लग गये। इस तरह केवल १८६५ और उस के चार पांच साल के भीतर जब अमेरीका में घरेलु युद्ध के कारण लंकाशायर को भारत की कपास लेनी पड़ी, जिस से कपास के मूल्य में बहुत वृद्धि होगई, हज़ारों जुलाहे दक्षिण में अपना धन्दा छोड़ कर खेती में लग गये। ऊपर लिखे हुए कुछ एक मुख्य कारण हैं जिन से भारत की औद्योगिक कायापलट हुई। परन्तु भारतीय धन्दों की पुराने धन्दे जो इन

हुए सो तो हुए। परन्तु वर्तमान भारतीय धन्दों का वर्णन, जिनकी उन्नति पर देश की औद्योगिक उन्नति अवलम्बित है प्रसंग से बाहर न होगा हम इन उद्योगधन्दों को दो भागों में बांटते हैं—बड़े धन्दे जो विशेष उन्नति कर चुके हैं और छोटे २ धन्दे जिन की नींवें तो पड़ चुकी हैं किन्तु जो बाल्याअवस्था से निकल कर प्रौढ़ अवस्था में नहीं आये।



भारत के प्रधान उद्योगधन्दे ।

जूट का घरेलू धन्दा बंगाल में बहुत प्राचीन काल से चला आता है, परन्तु पश्चिमी ढंग के अनुसार इस की नींव १८२८ में पड़ी । श्रीरामपुर में १८५५ में कातने का कारखाना और १८५६ में बुनने का कारखाना जारी किया गया । हाथ से बुनने का रिवाज अब उठता जा रहा है, यद्यपि कातने और बुनने के घरेलु धन्दे अब भी कहीं २ दिखाई देते हैं । इस व्यवसाय ने १८७४ से आश्चर्यजनक उन्नति की है । १८५५ के क्रीमिया युद्ध और अमेरीका के घरेलु युद्ध के पश्चात जूट के व्यवसाय में बहुत उन्नति हुई । क्यों कि इन दोनों युद्धों के अवसर पर रूस से सन और पटसन और अमेरीका से कपास का निर्यात वन्द होने के कारण जूट की मांग बहुत बढ़ गई और बोरियां इत्यादि उसी की बननी आरम्भ होगई । १८७४ में जूट की पैदावार ५ करोड़ ४० लाख रुपये की थी । १९१८ में उस की पैदावार का दाम ५० करोड़ रुपये होगया । आजकल जूट के ७६ कारखाने हैं; जिन में ३९३०० करघे और २७०००० श्रमजीवि काम करते हैं । इन कारखानों में सारी पूंजी विदेशी लगी हुई है जो कि १४ करोड ७५ लाख रुपये के लगभग है ।

कच्चे जूट की पैदावार भारत के सिवाय और किसी देश में नहीं होती । व्यवसाय में इस का मुकाबला केवल स्काटलैण्ड के नगर डण्डी से है । परन्तु डण्डी के कारखानों की पैदावार भारतीय कारखानों के मुकाबले में केवल $\frac{1}{5}$ है ।

युद्ध काल में विदेशी मण्डियों के वन्द होने से कच्चे जूट का भाव बहुत गिर गया । भारतीय कारखानेदारों ने इस अवसर से लाभ उठाना चाहा । और कच्चा जूट सस्ते दामों पर खरीद कर कैन्वस, बोरियां, जूट का कपड़ा इत्यादि चीज़ों को बनाना आरम्भ किया, क्योंकि ऐसी चीज़ों की युद्ध के कारण बहुत मांग

थी। इस व्यवसाय में उन्हें करोड़ों रुपये का लाभ हुआ। इन वस्तुओं का युद्ध काल में निर्यात व्यापार इस प्रकार था :—

१९१६-१७	२८००००००० पौंड
१९१७-१८	२९००००००० „
१९१८-१९	३५००००००० „

मार्च १९१६ में भारत सरकार ने जूट के निर्यात पर ५ प्रति सैंकड़ा चुंगी लगाई। १९१७ में यह चुंगी दुगनी की गई। १९१८-१९ में इस चुंगी से सरकार को १५ लाख पौंड की आय हुई।

कपड़ा—१९१९-२० में कपास की पैदावार ५ मन प्रति गट्ठे के हिसाब ५८४५००० गट्ठे थी, और २००६३००० एकड़ में इस की खेती हुई थी। घरेलु रूई के उद्योगधन्दे की अवनति के कारणों पर हम पीछे कुछ लिख चुके है। वर्तमान कलकारखानों की नींव हुगली में १८३७ ई० में डाली गई। दूसरा कारखाना बम्बई में १८५३ में खुला। और उस समय से लेकर व्यवसाय ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। १८८० में केवल ५८ कारखाने थे। १९१८ में उन की संख्या २६८ होगई, और २८४००० आदमी उन में कार्य करते थे। १९१८ में ११४००० से ऊपर खड्डियां और ६६ लाख से ऊपर तकले काम करते थे। भारत संसार में कपड़े की पैदावार की दृष्टि से चौथे दर्जे पर है। इङ्गलैण्ड, अमेरीका और जर्मनी क्रमानुसार पहिला दूसरा और तीसरा है।

अधिकतर कारखाने बम्बई में हैं, जहां इन की संख्या १७३ है। उन में सारी भारत की पैदावार का ७५ प्रति सैंकड़ा सूत और ८७ प्रति सैंकडा कपड़ा तय्यार होता है। भारतीय कपड़े की ९० प्रति सैंकड़ा खपत भारत में होती है। १९११ में भारतीय कपड़े का विदेशी कपड़े से अनुपात ४७ और १०० का था। १९१५ में यह अनुपात ५९ और १०० का होगया। अब भारत में पहिले वर्षों की अपेक्षा बढ़िया कपड़ा भी अधिक परिमाण में बनना आरम्भ हो गया है।

चीनी—गुड़ और शक्कर पहिले पहल सारे संसार को भारत से गया। अब भी भारत में गन्ने की खेती का क्षेत्रफल दूसरे सब देशों से अधिक है। १६१८ में २८१८००० एकड़ में गन्ने की खेती हुई। गुड़ की पैदावार लगभग ३५७६७०० टन थी। भारत में जनसंख्या का अधिकांश भाग गुड़ शक्कर का दैनिक खानपान में प्रयोग करता है, इस लिये गुड़ शक्कर की खपत भी भारत में दूसरे देशों से अधिक है। भारत में चीनी की कम उपज होने से हम विदेशी चीनी बहुत बड़े परिमाण में मंगवाते हैं। विदेशी सफेद चीनी को लोग भी गुड़ शक्कर की अपेक्षा अधिक पसन्द करने लगे हैं। आमतौर पर चीनी का आयात १६ करोड़ रुपये का होता है। १६१६ में दाम बढ़ जाने से हम ने २२ करोड़ की चीनी बाहर से मंगवाई। भारत में प्रति एकड़ गन्ने के खेत से केवल १.०७ टन चीनी प्राप्त होती है, यद्यपि क्यूबा में १.६६ टन, जावा में ४.१२ टन और और हवाई में ४.६१ टन। चीनी की पैदावार और उद्योगधन्दे में इस त्रुटि के नीचे लिखे कारण हैं:—

१ आम तौर पर बेलने बैलों से चलाये जाते हैं, यद्यपि दूसरे देशों में यह काम वाष्पशक्ति से होता है।

२ यहां चीनी गुड़ से बनाई जाती है और दूसरे देशों में रस से।

३ क्योंकि देश में गुड़ की बहुत मांग और दाम तेज़ रहते हैं, इस लिये उस से चीनी बनाने में खर्च अधिक और लाभ कम होता है।

४ कारखाने उन इलाकों में नहीं या उन से दूर फासले पर हैं जहां गन्ना बहुत ज्यादा परिमाण में पैदा होता है। इन त्रुटियों को दूर करने से चीनी की उपज में बहुत वृद्धि हो सकती है और विदेशी चीनी के आयात को कम किया जा सकता है।

चमड़ा व बूट—भारत में पशुसम्पत्ति अधिक होने से अन्य

देशों की अपेक्षा चमड़ा अधिक मिलता है। युद्ध के पहिले यह अमेरीका और जर्मनी को कच्ची हालत में भेजा जाता था। बूट और जूतों का वार्षिक आयात भी काफ़ी था। युद्धकाल में सरकार की सहायता से इस व्यवासय ने अचर्श्यजनक उन्नति की है। १९१३ में भारत में कमाये हुए चमड़े का निर्यात २९०८ लाख रुपये का था और १९१७-१८ में २८१५५००० रुपये का। इन अंकों से स्पष्ट है कि चमड़ा कमाने और रंगने के धन्दे की वहुत उन्नति हुई है। इस समय चमड़े की पेटियां, रोलर चमड़ा, चमड़े के बाजे और बूट काफ़ी परिमाण में भारत में ही बनाये जाते हैं। उदाहरण के लिये भारत में बने हुए बूटों की कुल संख्या २५ लाख जोड़े है, जो कि युद्ध के पहिले से २४ गुना अधिक है। कानपुर, कलकत्ता और मद्रास इस व्यवसाय के केन्द्र हैं। खाल उतारने में लापरवाही, धार्मिक पक्षपात, कई स्थानों की जलवायु और चमड़े को वेचने की इच्छा से वेच देना या और प्रकार से ख़राब करना, ये कुछ दोष हैं जिन की उपस्थित में उन्नति रुकी हुई है। ११ सितम्बर, १९१९ से भारत सरकार ने कच्चे चमड़े के निर्यात पर १५ प्रति सैंकड़ा चुंगी लगा दी है। इस में से १० प्रति सैंकड़ा चुंगी माफ़ कर दी जाती है यदि चमड़ा साम्राज्यान्तर्गत किसी देश में रंगने और कमाने के लिये भेजा जाता है।

लोहा वा फ़ौलाद्—अच्छी किस्म का कच्चा लोहा तो देश के हरेक भाग में पाया जाता है, किन्तु कोयले के पास यह वहुत कम मिलता है। इस से उस का पूरा फायदा नहीं उठाया जाता। लोहा पिघलाने का काम पुराने तरीकों के अनुसार तो सारे देश में किया जाता है। परन्तु पश्चिम के उन्नत तरीकों पर दो कारख़ाने स्थापित हुए हैं; जो सफलतापूर्वक चल रहे हैं। वास्तव में प्रयत्न सा १८३० और १८७५ से जा रही है, परन्तु सफलता के चिन्ह अभी दिखाई देने लगे हैं। बंगाल स्टील आयरन कम्पनी का मुख्य स्थान वराकार में है, और मानभूम और सिंहभूम में उस की कानें हैं।

टाटा कम्पनी का कारखाना जमशदन गर में है, और जिला रायपुर में उस की कानें हैं। १६१६ में दोनों कारखानों की पैदावार निम्न लिखित थी, जो भारत की अवश्यकताओं को सन्मुख रखते हुए बहुत कम है। यह बात दुःखप्रद है कि भारत में मशीनें बनाने का अभी तक एक भी इन्जीनियरिङ्ग का कारखाना नहीं खुला।

कम्पनी	पिग आयरन	फौलादि और रेल	फीरो-मैगंनीज़
टाटा कम्पनी	२३२३६८ टन	१३४०,०६१ टन	२६५० टन
बंगाल कम्पनी	८४६१५ ,,	२६६३५ ,,	४७३२ ,,

कुछ छोटे २ धन्दे—हम इन धन्दों को छोटा इस लिये नहीं कहते कि ये देश के लिये अनावश्यक हैं, या उन के बने हुए माल की देश में कम मांग है प्रत्युत केवल इस लिये कि अभी तक वे बहुत छोटे पैमाने पर जारी हो सकते हैं। और उन की बनी हुई वस्तुओं के मुकाबले में वैसी ही वस्तुओं का आयात बहुत ज़्यादा है।

काग़ज़ का व्यवसाय—काग़ज़ बनाने के देश में लगभग आध दर्जन अच्छे कारखाने हैं, जिन की वार्षिक औसत पैदावार तीस हज़ार टन है। भारत में काग़ज़ की कुल वार्षिक खपत ७५००० टन है। युद्ध के पहिले काग़ज़ों के सब कारखाने घाटे पर चल रहे थे। परन्तु युद्ध के कारण अब इन की अवस्था अच्छी हो गई है। युद्ध काल में इन कारखानों ने सरकार के लिये ६ करोड ३० लाख पोस्टकार्ड, रेलवे टिकट कार्बन, कागज़, नकल करने वाला काग़ज़ और गत्ता तय्यार किया। काग़ज़ बनाने के लिये कच्चा माल, बांस चिथड़े और विशेष कर घास, बहुत ज़्यादा परिमाण में भारत में मिलता है। १६२०-२१ में २८००० टन काग़ज़ विदेश से भारत में आया, जिस का दाम दो करोड़ २५ रुपये था। इस भारी आयात को तभी कम किया जा सकता है जब कच्चे माल का पूरी तरह से उपयोग किया जावे। व्यवसाय की उन्नति के लिये आवश्यक है कि गोदा बनाने के कारखाने जंगलों के समीप हों। घासों की खोज और

प्रयोग भी काग़ज़ के व्यवसाय की उन्नति के लिये ज़रूरी है।

शीशा-पुराने व्यवसाय के खंडहर पर नये व्यवसाय की नींव १८९२ में रखी गई। परन्तु युद्धकाल तक नये चलाये हुए कारख़ानों की अवस्था अच्छी न थी। युद्धकाल में इस व्यवसाय की कुछ उन्नति हुई। आजकल शीशे के लगभग २० कारख़ाने हैं। फिरोज़ाबाद चूड़ियां बनाने का भारी केन्द्र है और २० लाख रुपये वार्षिक की चूड़ियां उस में बनाई जाती हैं। अब चिमनीयां, बोतलें फलास्क, पैमाने, ग्लास, टेस्ट ट्यूब और तश्तरियां भी भारतीय कारखानों में बननी आरम्भ हो गई हैं। १९१८-१९ में १६२००००० रुपये का शीशे का सामान भारत में बाहर से लाया गया।

व्यवसाय की वर्तमान अवस्था संतोषप्रद नहीं है, क्योंकि अम्बाला और फिरोज़ाबाद जो इस के केन्द्र हैं कोयले और रेत के कारखानों से बहुत दूर हैं। और ये पदार्थ व्यवसाय के लिये आवश्यक हैं। इस लिये जबतक इन कारखानों को रेल के किराये में रिआयत न दी जाये या संरक्षणार्थ चुंगी आयात पर न लगाई जाती, उनका विदेशी माल से मुकाबला करना दुष्कर है।

साबुनसाज़ी-साबुन के भारत में छोटे बड़े ५२ कारख़ान हैं, जो ३५ हज़ार टन साबुन तय्यार कर सकते हैं। साबुन के कुल परिणाम का १५/१६ भाग घटिया मेल का होता है। भारत में देशी तरीकों से भी बहुत सा साबुन बनाया जाता है, परन्तु उसके कुल परिमाण का अनुमान लगाना कठिन है। साबुन का इस देश में बहुत खपत है। आवश्यकता इस बात है कि वैज्ञानिक तरीकों से उसे बनाया जाये। आजकल हम ऐसे गलतमलत मसालों से साबुन बनाते हैं कि माल बहुत घटिया बनता है। देशी साबुन बनाने के मार्ग में नीचे लिखी कठिनाईयां हैं।

१-सस्ती चीज़ें, जैसे बावर्चीखाने की जूठा, पिघली हुई चर्बी

हड्डी की चर्बी, जहाज़ों कारख़ानों से बची हुई रोग़नी वस्तुएं इत्यादि, इस काम के लिये यहां नहीं मिल सकतीं।

२–गौण व्यवसाय अभी कमजोर हैं, जैसे डिब्बे, लिथोग्राफ और तसवीरों के ब्लाक बनाना।

३–छोटे २ कारखानों में ऐसी प्रक्रियाओं से साबुन बनाया जाता है कि ग्लिसरीन साबुन के बीच में रह जाती है। परिणाम यह होता है कि तेल के रोगनों और श्रमजीवियों के सस्ता होने से पूर्ण लाभ नहीं उठाया जा सकता।

दियासलाई–१९१९–२० में भारत में दियासलाई के १५०००००० डिब्बे आये, जिनका कुल दाम २०५००००० रुपये था। कुल आयात का ९२ प्रति सैंकड़ा जापान से था। इङ्गलैंड में बनी हुई डिब्बियां भारत में बहुत कम आती हैं और मुकाबले में जापानी माल सस्ता होने से बाजी लेजाता है। दियासलाई की लकड़ी के लिये भारत में बहुत से वृक्ष उपयोग में लाये जा सकते हैं, जैसे कदम, आम, पलाश, चील। अब तक भारतीय कारखानादारों को कोई सफलता नहीं प्राप्त हुई। युद्ध के पहिले केवल छैः कारखाने काम कर रहे थे। थोड़ा समय हुआ है जब दो क़ारख़ाने अच्छे परिमाण पर रंगून और मांडले में जारी किये गये हैं। एक चीनियों ने और एक अंगरेजों ने चलाया है।

सिगरेटसाज़ी–यद्यपि तम्बाकु का बड़ा केन्द्र बंगाल है, किन्तु सिगरेट बनाने के बड़े कारखाने मद्रास में जि० डिंडीगल और पांडीचरी में हैं। मुंगेर का कारखाना १९०८ में जारी किया गया था। १९१८-१९ में इस कारखाने ने २०२४०००००० सिगरेट तय्यार किये, और १४४००० पौंड पीने का तम्बाकु। स्वदेशी सिगरटों के सिवाय विदेशी सिगरटों का आयात १९१९-२० में २०२००००० रुपये का था। इन अंकों से स्पष्ट होता है कि भारतीय व्यवसाय के लिये अभी उन्नति के लिये काफ़ी क्षेत्र है।

ऊपर हमने संक्षेप से भारतीय उद्योगधन्दों पर दृष्टि दौड़ाई है। इस दिग्दर्शन से स्पष्ट है कि भारत अपनी सब औद्योगिक आवश्यकताओं को स्वयमेव पूर्ण नहीं करता, यद्यपि उसके पास ऐसा करने के पर्याप्त साधन हैं। उसको जीवन के अत्यन्त ज़रूरी पदार्थों के लिये दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस दुरावस्था का कारण देश में पूंजी और इस प्रकार के संचालकों की कमी है जो उद्योगधन्दों में जान फूंक सकते हैं। सरकार की उदासीनता और जनसाधारण में शिक्षा के अभाव और ग़रीबी ने इस आर्थिक अधः पतन को और भी बढ़ा दिया है। इस समय सिवाय आत्मोद्धार के और कोई चारा नहीं जिस से भारतीय उद्योगधन्दे, अपनी विशेषताओं को सुरक्षित रखते हुए, फिर से अपने पैरों पर खड़े होसकें।



रेलें

पिछले अध्यायों में हमने भारत की कृषि तथा व्यवसाय सम्बन्धी उपज पर दृष्टि दौड़ाई है, और संक्षेप से उसकी वर्तमान अवस्था पर भी विचार किया है। परन्तु किसी देश की सम्पत्ति का ठीक अनुमान लगाने के लिये उसके उन साधनों पर भी विचार करना आवश्यक है जिन से धन की पैदावार और उपज में सहायता मिलती है। इस लिये भारत की अवस्था पर विचार करते हुए उसकी रेलों का संक्षिप्त वृत्तान्त देना आवश्यक है। रेल, तार और जहाज़ वर्तमान औद्योगिक परिवर्तन में बड़े शक्तिशाली सहायक हैं। इन साधनों से समय की बचत हुई है और फ़ासले कम होगये हैं। संसार की मंडियां परस्पर समीप आगई हैं। और सम्पति का खूब सदुपयोग हो सकता है। भारत की अवस्था में तो रेल इत्यादि से विशेष परिवर्तन आये हैं, जिनपर हम इस अध्याय के अन्त में विचार करेंगे।

भारत में रेलें बनाने का पहिले पहल प्रस्ताव १८४५ में हुआ। परन्तु प्राईवेट कम्पनियों को, जिन्हों ने इस प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न किया, बहुत सी बाधाओं का मुकाबला करना पड़ा। पूंजी का अभाव या उसी की प्राप्ति में कठिनता सब से बड़ी बाधा थी। इंगलैंएड के उस समय के साहुकार भारत जैसे दूरवर्ती देश में पूंजी लगाने से झिझकते थे, क्योंकि ब्रिटिशसाम्राज्य का सूर्योदय अभी पूरी तरह भारत में नहीं हुआ था। इन सब बाधाओं को दूर करने के लिये ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाईरेक्टरज़ ने निश्चय किया कि भारत सरकार उस सब पूंजी पर, जो कम्पनियां भारत में लगायें, कमसे कम ५ प्रति सैंकड़ा सूद देने की ज़िम्मेवारी अपने कन्धों पर ले, चाहे उनको लाभ हो या हानि। अर्थात् कम्प-

नियों के संचालकों को हर समय यह निश्चय था कि यदि उनकी रेलें घाटे पर चलें तो गवर्नमेन्ट उस घाटे को ५ प्रति सैंकड़ा सूद देकर पूरा कर देगी। और यदि लाभ कम हुआ तब भी वह बाकी रकम को अपने पास से डालकर उनकी आय पूंजी के ५ प्राप्ति सैंकड़ा कर देगी। गवर्नमेंट की इस सूद की ज़िम्मेवारी को गारन्टी पद्धति कहते हैं। आरम्भ में सारी रेलें इस गारन्टी पद्धति के अनुसार बनाई गईं। १८४९ में लार्ड डलौज़ी ने एक खरीता कम्पनी को भेजा जिसमें, रेलें बनाने के उद्देश्यों और लाभों पर विचार करते हुए, उन्होंने अन्त में कम से कम ५ प्रति सैंकड़ा सूद गारन्टी करने का प्रस्ताव उसके डाईरेक्टरों के सामने रखा। यह खरीता भारतीय रेलों के इतिहास में अंगरेज़ों के स्वार्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्णयुग के आगमन का सूचक था। लार्ड डलौज़ी ने स्पष्टता से उस में लिख दिया कि उसके रेलवे बनाने के उद्देश्य राजनीतिक और सैनिक हैं, न कि आर्थिक। यदि कोई आर्थिक उद्देश्य है भी तो वह यह है कि इंगलैण्ड का देश पर राजनीतिक प्रभुत्व के साथ २ आर्थिक प्रभुत्व भी हो जाये। खरीता पहुंचने पर कानूनी कार्यवाई पूरी की गई। और १७ अगस्त, १८५९ को कम्पनियों के साथ नियमपूर्वक ठेका किया गया। इस ठेके की कुछ एक आवश्यक शर्तें नीचे दी जाती हैं:

१–सरकार ने रेलों को ९९ वर्ष के पश्चात खरीदने का स्वत्व अपने हाथ में रखा। उस को रेलें खरीदते समय स्थावर सम्पति का मूल्य नहीं देना होगा।

२—डाक का काम कम्पनियों को मुफत करना और फौजी सामान और सिपाहियों को आधे किराया पर ले जाना।

सरकार ने और भी ऐसी शर्तें कम्पनियों से स्वीकृत करवाईं, जिन से सरकार को रेलों पर देख भाल करने का अधिकार मिला। परन्तु यह गारन्टी पद्धति (जिस से गवर्नमेन्ट ने पूंजी पर ५ प्रति सैकड़ा सूद कम्पनियों को निश्चय दिलाया और जिस से उसको उन पर देखभाल करने का स्वत्व प्राप्त हुआ) कई बातों में त्रुटि

पूर्ण थी। पहिली खराबी जो इस में पैदा हुई वह यह थी कि बजाये इस के कि कम्पनियां मंडी के व्याज के दर पर रुपये कर्ज़ पर लेने का प्रयत्न करें, वे सरकार द्वारा गारन्टी किये हुए व्याज के दर पर रुपये ऋण पर लेने लगीं। यह गारन्टी किया हुआ सूद का दर बाज़ारी दर से कई बार बहुत अधिक होता था। इस से भारत सरकार को बहुत घाटा उठाना पड़ा। आर्थिक घाटे के सिवाय रेलवे शासन का भार कम्पनियों और गवर्नमेन्ट दोनों के कन्धों पर पड़ जाना और भी हानिकारक सिद्ध हुआ। गवर्नमेन्ट और कम्पनियों में रेलों पर अपना नियन्त्रण बढ़ाने में भारी मुकाबला होने लगा, जिस का परिणाम सिवाय खटपट के और कुछ न हुआ। और दोनों के कर्मचारियों में परस्पर झगड़े होने लग पड़े। तीसरा दोष इन रुपया बटोरने वाली कम्पनियों में यह था कि उन्होंने करोड़ों रुपये खर्च कर ऐसे प्रान्तों में रेलें बनाईं जहां कोई ख़ास आवश्यकता न थी। देश की ज़रूरतों का उन्होंने कुछ ध्यान न रखा। इस से रुपये का बहुत दुरुपयोग हुआ। रेलों के बनाने में सूद की गारन्टी देने से यह भी ख़राबी उत्पन्न हुई कि उन के उच्च कर्मचारियों, इन्जीनियर ट्रैफिक मैनेजर इत्यादि, को वेतन देने में बहुत फ़िज़ूलखर्ची से काम लिया गया। उच्च कर्मचारियों का, जो प्रायः अंगरेज़ होते थे, सर्वदा यही प्रयत्न होता था कि रेलें बनाने में जितना विलम्ब किया जा सके, उतना हो, क्योंकि इस से उन को मोटी २ तनख्वाहें देर तक मिलती रहेंगी। बोर्ड आफ़ डाईरेक्टरों की इस नीति ने कि, जहां तक हो सके, रेलों के सामान खरीदने में अपने कृपापात्रों को लाभ पहुंचाया जाय, भारत को आर्थिक दृष्टि से और भी नुक्सान पहुंचाया।

ऊपर लिखी, और कुछ अन्य, त्रुटियों के कारण १८६८ में गारन्टी की पद्धति का अन्त किया गया। रेलों के इतिहास में दूसरा काल १८६९ में आरम्भ होता है जब, लार्ड लारेन्स की अध्यक्षता में, गवर्नमेन्ट ने रेलें बनाने का काम अपने हाथों में लिया। भारत-

मंत्री ने भारत की मालगुजारी और चुंगी की ज़मानत देकर लन्दन की मंडी में ऋण लेना आरम्भ किया, और दस साल तक बराबर रेलें बनाने का सब काम गवर्नमेन्ट स्वयम करती रही।

१८७८---८२ के अकाल से सरकार इस परिणाम पर पहुंची कि उसे दुर्भिक्ष दूर करने के लिये रेलें बहुत आवश्यक हैं। परन्तु सरकार के स्वयम बनाने से रेलवे उन्नति शीघ्र नहीं हो सकती। इस लिये कम्पनियों की सहायता आवश्यक है। तदनुसार अब तक सरकार इस पालिसी पर चलती आई है कि नई रेलों का स्वामित्व तो गवर्नमेन्ट का होता है, परन्तु उन के प्रबन्ध का काम वह कम्पनियों को सौंप देती है। इस सेवा के बदले सरकार उनको मुनाफे का निश्चित भाग देती है। फ़ौजी दृष्टि से महत्त्व पूर्ण रेलों का प्रबन्ध गवर्नमेन्ट ने अपने हाथ में रखा है। इस कोटि में पंजाब और सीमाप्रान्त की रेलें हैं। १८६४ के पश्चात बहुत सा रुपया पंजाब और सीमान्तप्रान्त में फौजी रेलें बनाने में खर्च किया गया।

इस इतिहास पर दृष्टि दौड़ाने से स्पष्ट होता है कि रेलों के बनाने में सरकार ने तेज़ी से काम लिया है। और उसको बहुत घाटा उठाना पड़ा है। यह रेलों को जल्दी फैलाने का ही परिणाम था कि १८९६ में कम्पनियों ने अपनी पूंजी का सूद भी न निकाला। १८९६ तक भारतीयों की जेब से ६२ करोड़ रुपया टैक्सों के रुप में वसूल किया जा चुका था, ताकि सरकार उस वार्षिक घाटे को पूरा कर सके जो रेलों के बनाने में उसको हुआ। कुछ वर्ष रेलों से लाभ भी हुआ। परन्तु १९०८ में फिर रेलों से घाटा हुआ। उसके पश्चात अब तक रेलों से लाभ ही होता रहा है। युद्धकाल में तो रेलों से विशेष आय हुई है।

आरम्भ में जो कम्पनियां गारंटी के सिद्धान्त के अनुसार बनाई गई थीं उन में से लगभग सब को सरकार ने खरीद लिया है ईस्ट बंगाल, नार्थ वेस्टर्न, अवध रुहेलखण्ड और बम्बई बड़ोदा और सेन्ट्रल इंडिया रेलों की स्वामी सरकार है। ईस्ट इण्डियन और

जी. आई. पी को सरकार ने १८८० और १९०० में खरीद कर फिर कम्पनियों को चलाने के लिये दे दिया। जी. आई. पी का ठेका ३१ दिसम्बर, १९२५ को समाप्त होता है। ईस्ट इण्डियन का ठेका दो साल के लिये दिसम्बर १९१९ में बढ़ाया गया था।

१८९७ तक रेलों का प्रबन्ध पी. डब्ल्यु. डी के हाथ में था, जिस में एक निपुण मंत्री और तीन उपमंत्री सरकार को परामर्श देने के लिये थे। १९०५ में रेलवे बोर्ड स्थापित हुआ। इस के चार सदस्य हैं-प्रधान, मंत्री और बाकी दो मेम्बर। देखभाल और नई लाईनों की स्वीकृति इत्यादि सब काम बोर्ड को करने पड़ते हैं, यद्यपि देखभाल और पालिसी के विषय में अन्तिम निर्णय देना भारत सरकार के हाथ में है। बोर्ड की नियुक्ति भारतसरकार का व्यापार और व्यवसाय विभाग का मेम्बर करता है। १९१८-१९ के अन्त में भारतीय रेलों की ३६६१६ मील लम्बाई थी। रेलों पर इस समय तक कुल खर्च ५४९७४४५००० रुपये हुआ है। उन से, खर्च निकाल कर, खालिस बचत अबतक ४४४८५१००० रुपये की हो चुकी है।

रेलों का देश की आर्थिक और सामाजिक अवस्था पर बड़ा भारी असर हुआ है। नीचे लिखी बातें इस कथन को पुष्ट करती हैं।

१ सफ़र करने में कम खर्च होता है। यात्रियों को इधर उधर जाने में बहुत सुविधा होगई है।

२ श्रमजीवियों को स्थानान्तर गमन में बहुत आसानी हो गई है। घनी बस्तियों से और ऐसे प्रदेशों से जहां की भूमि कम उपजाऊ या ऊसर है, लोगों ने दूसरे स्थानों पर जाना आरम्भ कर दिया है, जहां उनके श्रम की मांग है और मज़दूरी भी पहिले से अधिक मिलती है। उड़ीसा, संयुक्तप्रान्त के पूर्वी जिलों, मद्रास और वं कानेर से लोग अब भारी तादाद में बंगाल, आसाम, बर्मा और पंजाब नौकरी की तलाश में जाते हैं।

३ फ़ालतु अनाज के लिये स्थान२ पर मंडियां खड़ी हो गई हैं।

४ आयात के पदार्थ सस्ते पड़ते हैं ।

५ दामों में अन्तर कम होगया है ।

६ अकाल और उसके कष्टों को दूर करने में रेलें बहुत उपयोगी सिद्ध हुई हैं ।

७ नये नगर और कस्बे बस गये हैं, और उद्योगधन्दों की बहुत उन्नति हुई है ।

८ जातपात के बन्धन ढीले पड़ गये हैं । प्रान्तिक भेद कम हो गया है और इस विस्तृत देश में राष्ट्रीयता का भाव जागृत हुआ है ।

परन्तु रेलों के विस्तार से कई त्रुटियां भी आगई हैं, जिन को दूर करना आवश्यक है ।

१ भिन्न २ पटरियां होने से और पुलों की कमी के कारण सवारी और असबाब को स्थान २ पर बदलने से बहुत नुक्सान और खर्च होता है ।

२ औद्योगिक वस्तुओं के आयात में वृद्धि होने से घरेलु दस्तकारी को बहुत धक्का पहुंचा है ।

३ खाद्य पदार्थों और कच्चे माल के निर्यात के बढ़ जाने से इन चीज़ों का दाम बढ़ गया है ।

४ अब तक भारतीय रेलों की किराये की नीति यह रही है कि यदि भारत में बनी हुई वस्तुओं को देश के दूसरे भाग में भेजना हो, तो किराया अधिक देना पड़ता है । और यदि बाहर से आयी हुई औद्योगिक वस्तुओं को उतनी ही दूरी पर भेजना हो, तो किराये का निर्ख़ कम है । इस प्रकार कराची, बम्बई इत्यादि समुद्रवर्ती नगरों को अनाज और कच्चामाल भेजने में कम खर्च होता है और औद्योगिक पदार्थ भेजने में अधिक । इस भेदभाव ने भारत को बहुत हानि पहुंचाई है ।

५ पानी के प्राकृतिक प्रवाह को रेल की पटरी रोकती है । वर्षाऋतु में यह दिक़्क़त बहुत ज्यादा हो जाती है । और पानी प्रायः

मलेरिया इत्यादि रोगों को फैलाने का कारण होता है। बंगाल के डाक्टर बेन्टले ने बहुत खोज और अनुभव के पश्चात यह पता लगाया है कि बंगाल में मलेरियो या मौसमीज्वर की, अवधि के बढ़ने का कारण रेलें हुई हैं। पूर्व बंगाल में, जहां रेलों का जाल उतना फैला हुआ नहीं है जितना पश्चिम-बंगाल में, मलेरिया कम होता है।

इस प्रकरण को छोड़ने से पहिले भारतीय रेलों के राष्ट्रीयकरण की समस्या के विषय में भी कुछ लिखना उचित प्रतीत होता है। भारत में यह समस्या उतनी पेचीदा नहीं जितनी कि अन्य देशों में है; जहां प्रबन्ध, स्वामित्व, इत्यादि सब कुछ प्राइवेट कम्पनियों के हाथ में है। लार्ड डलौज़ी ने आरम्भ से ही सरकारी नियन्त्रण का नियम स्थिर कर दिया था। और उसी सिद्धान्त पर सरकार आजतक चलती आई है। रेलवे-पालिसी में चाहे कितने ही परिवर्तन क्यों न आये हों, भारत की बहुत सी रेलें पहिले से ही सरकार की सम्पत्ति हैं। बाकी रेलें भी, जिन का प्रबन्ध कम्पनीयां करती हैं, सरकार के नियन्त्रण में है। और यह नियन्त्रण कोई साधारण नहीं। इस लिये रेलों को राष्ट्रीय बनाने का प्रश्न ही अप्रसंगित है। हां, यह मांग हो सकती है कि ठेकों की मियाद समाप्त होने पर सरकार उन रेलों को जिन का प्रबन्ध ठेके पर हो रहा था, फिर से कम्पनियों के हवाले करदे, या उन का प्रबन्ध, नार्थवेस्टर्न और अवध रुहेल खंड रेलवे की तरह, स्वयमेव अपने हाथ में लेले।

यह प्रस्ताव कई बार भारतीय राजनीतिज्ञों द्वारा किया गया है कि रेलें न केवल राजकीय सम्पति होनी चाहिये प्रत्युत उनका प्रबन्ध भी सरकार के हाथ में होना चाहिये। मि० गोखलेने १९०५ में बजट की बहस में इस बात पर ज़ोर दिया था। इसके पश्चात सर विठ्ठलदास ठाकरसे ने बड़े लाट की कौंसिल में १९१२ में इस प्रश्न को उठाया। और तत्पश्चात १९१५ में सर इब्राहिम

रैहमतुल्ला ने, और १९१८ में मिस्टर शर्मा ने, जो अब भारत सरकार के मेम्बर हैं, इस पर कौंसल में विवाद किया। गतवर्ष सरकार ने इस प्रश्न को हल करने के लिये एक कमीशन नियुक्त की। बहु मत ने, जिस के साथ प्रधान भी सहमत है, इस बात के पक्ष में सम्मति दी है कि सरकार को रेलों का प्रबन्ध तुरन्त अपने हाथों में ले लेना चाहिये। और कम्पनियों के हाथ में उसे नहीं रहने देना चाहिये। यह निर्णय ऐसा है जिस पर सब समझदार भारतवासी प्रसन्न होंगे। देखें, सरकार कब इन सिफ़ारशों को कार्यरूप में परिणत करती है। रेल एक ऐसा उद्योगधन्दा है जो लोगों के जीवन और देश के व्यापार पर विशेष प्रभाव डालता है। इस लिये सरकार को रेलें अपने अधिकार में रखनी चाहियें। और उनका सारा प्रबन्ध सरकारी विभाग की हैसियत में करना चाहिये। इस से वह रुपया जो लाभ या व्याज के रूप में प्राईवेट कम्पनीयां लेती है सरकार को मिलेगा। और सरकार को टैकस कम करने और या लोगों को आराम पहुंचने में अधिक सुविधा होगी।



नहरें

देश की कृषि सम्बन्धी सम्पत्ति बढ़ाने में नहरें बहुत उपयोगी होती हैं। आजकल जितनी नहरें दिखाई देती हैं, उनमें से बहुत सी अंगरेज़ों के शासनकाल में खोदी गई हैं। तालाबों और कूओं द्वारा सिंचाई भारत में बहुत प्राचीन काल से होती आई है। मुग़लों और उन से पहिले फिरोज़ तुग़लक के शासनकाल में दो एक बड़ी नहरें बनाई गई थीं, जो बहुत देर तक काम देती रहीं। सिखों ने भी रावी के पानी को उपयोग में लाने के लिये हंसेली नहरें खोदीं। परन्तु नियमानुसार कहीं भी नहरों का जाल फैलाने की कोशिश नहीं की गई।

कृत्रिम उपायों द्वारा सिंचाई भारत जैसे देश के लिये अत्यन्त आवश्यक है। बंगाल, बर्मा और आसाम को छोड़कर, जहां वर्षा का औसत परिमाण १६० इंच है, भारत के दूसरे भागों में फसल सिंचाई पर आश्रित है। उत्तर भारत में वर्षा बहुत कम होती है, जिस से फ़सलें नहीं पक सकतीं। दक्षिण पश्चिम पंजाब और सिन्ध में तो वर्षा का प्रायः अभाव है। और दक्षिण में वह अनियामित और बहुत अन्तर के पश्चात होती है। इस लिये कृत्रिम साधनों द्वारा सिंचाई भारत में लोगों के लिये जीवित रहने का प्रधान उपाय है। योरूप में सिंचाई का उपयोग विलास के तौर पर किया जाता है; क्योंकि वर्षा की प्रचुरता से वहां फ़सल न पकने का भय नहीं रहता। वहां सिंचाई का उपयोग केवलमात्र पैदावार को बढ़ाने में होता है। यही कारण है कि भारत में बहुत प्राचीन काल से सिंचाई के कई ढंग निकाले गये हैं। इनको दो बड़े भागों में बांटा जा सकता है:—

(१) पानी ऊपर उठाने के ढंग, और (२) पानी एकत्रित करने के तरीके। झलार और कूओं की पहिली कोटी में गणना है, और तालाब और झीलों की दूसरी में।

कुओं पर लोगों का स्वामित्व है। और उन्हें वे अपनी देखभाल में रखते हैं। गवर्नमेन्ट उन में किसी प्रकार का दख़ल नहीं देती। और नया कुआं खोदने पर पन्द्रह बीस साल तक मालगुज़ारी में रिआयत की जाती है। एक कुओं से सिंचाई बहुत थोड़े क्षेत्रफल में होती है। परन्तु समूह-रूप से भारतीय सिंचाई में उनका बड़ा महत्त्व है। सारे देश के सींचे हुए क्षेत्रफल का ३० प्रति सैकड़ा भाग कुओं से सींचा जाता है। सिंचाई की दृष्टि से कुओं का दर्जा नहरों से बढ़ कर है। क्योंकि कुओं से पानी निकालने में परिश्रम अधिक करना पड़ता है, इस लिये किसान बहुत बचा २ कर उस का खर्च करता है। फसल भी नहरी फसल से ⅓ गुना ज्यादा होती है। मूल्यवान कृषिसम्बन्धी वस्तुओं को पैदा करने के लिये कुआं अधिक उपयोगी है। और उस पर लागत भी कम आती है। पंजाब और संयुक्तप्रान्त कुओं के घर हैं।

कुओं से दूसरे दर्जे पर सिंचाई का साधन तालाब हैं। छोटे २ देहाती छप्पर से लेकर बम्बई प्रान्त की फ़ाईफ़ और वाईटिंग और और ट्रावनकोर की पेरीयार जैसी बड़ी २ झीलें इस देश में पाई जाती हैं जिन में ४०००००००००० से ६५०००००००० घनमूल फुट गहरा पानी समा सकता है। और झीलें भी इसी प्रकार की हैं। मद्रास में कुछ तालाब इतने बड़े हैं कि उनका फैलाव लम्बाई और चौड़ाई में नौ २ मील तक चला जाता है। रैय्यतवारी इलाके में, अर्थात् बम्बई और मद्रास प्रान्त में, लगभग सब तालाब सरकार के प्रबन्ध में हैं। परन्तु ज़िमींदारी इलाके में वे ज़िमींदारों और गांव के अधिकार में हैं। सिन्ध और पंजाब में तालाबों द्वारा सिंचाई नहीं होती। तालाबों द्वारा गतवर्ष ८० लाख एकड़ में सिंचाई हुई थी। तालाबों में यह बहुत त्रुटि है कि अनावृष्टि में लाभकारी होने के बदले सूख जाते हैं, क्योंकि वर्षा के अभाव से वे भरे नहीं जा सकते। परन्तु जैसा कि हम पहले कह आये हैं, नहरें भारतीय सिंचाई की प्राण हैं और भविष्य में कृषि सम्बन्धी उन्नति उन्हीं पर अवलम्बित है।

नहरें दो प्रकार की हैं, वर्षस्थायिन और जलप्लावित नहरें। जलप्लावित नहरें बरसात में नदियों के फैलाव के कारण कुछ महीनों के लिये सिंचाई कर सकती हैं। अधिकतर जलप्लावित नहरें सिन्ध की वादी में बनाई गई हैं। वर्षस्थायिन नहरों में पानी सालभर रहता है। इन वर्षस्थायिन नहरों में उन बड़ी २ नहरों के अतिरिक्त जो ऋण के रुपये से बनाई गई हैं और जिन से सरकार को वार्षिक बहुत बड़ी आमदनी होती है, वे छोटी २ नहरें भी अन्तर्गत हैं जिन के बनाने का केवलमात्र उद्देश्य प्रान्त या प्रदेशविशेष को अकाल से बचाने का है। ऐसी नहरें आर्थिकदृष्टि से बोझ हैं, क्योंकि उनकी आमदनी से खर्च पूरा नहीं होता। परन्तु जीवनरक्षा की दृष्टि से उनका बनाना बहुत लाभकारी हुआ है। बड़ी २ नहरें और तालाब इत्यादि बनाने में सरकार की नीति यह है कि ऐसी नहरें कम से कम दस साल की अवधि के पश्चात् अपना २ चलाऊ खर्च और सूद निकालने के योग्य अवश्य हो जावें।

१६०१ में भारत सरकार ने एक बड़ी कमीशन सिंचाई और तत्सम्बन्धी विषयों पर विचार करने के लिये नियुक्त की। उस की रिपोर्ट १६०३ में भारत सरकार के सन्मुख रखी गई और कुछ एक बातों को छोड़कर उसकी बाकी सब सिफारशें भारत सरकार ने स्वीकार करलीं।

नहरी ज़मीन का टेक्स या आबियाना पंजाब और उत्तर भारत में मालगुज़ारी से जुदा लगाया जाता है। यह पानी के परिमाण पर अवलम्बित नहीं, किन्तु फसल, अवसिक्त क्षेत्रफल, ज़मीन और पानी की मांग पर है। औसत आबियाना नहरों और तालाबों द्वारा सींची गई ज़मीनों से साढ़े तीन रुपये प्रति एकड़ है।

३१ मार्च, १६२१ को नहरों और उन शाखाओं की कुल लंबाई ६६७५४ मील थी। इस से पांच करोड़ एकड़ से अधिक भूमि सींची जासकती थी, परन्तु सींची केवल २ करोड़ ७० लाख एकड़ गई। १६२०-२१ में ऐसी नहरों पर, जो अपना सारा खर्च सूद समेत दस

वर्ष के पश्चात् निकाल सकती थीं, कुल लागत (दस रुपये प्रति पौंड के हिसाब से) ५८ करोड़ ६० लाख रुपये थी। यदि सूद और चलाऊ खर्च निकाल दिया जाये तो सरकार को ऐसी नहरों से खालिस बचत ६ प्रति सैंकड़ा हुई। रक्षार्थ नहरों की कुल लागत (दस रुपये प्रति पौंड के हिसाब से) ११ करोड़ ७०लाख रुपये थी। इस प्रकार की नहरों और तालावों पर खालिस नुकसान १६१५ में २.७३ प्रति सैंकड़ा हुआ।

पंजाब की बारह महीने बहने वाली नदियां और विस्तृत मैदान सिंचाई के लिये बहुत सुविधापूर्ण साधन हैं। सिन्धु नदी को छोड़ कर, जिस से केवल अभी तक जलप्लावित नहरें निकाली जा सकती हैं, पंजाब की सब नदियां सिंचाई के लिये काम में लायी गई हैं। इस समय पंजाब भर में नहरों का विस्तृत और सुन्दर जाल बिछा हुआ है। और इस दृष्टि से हमारा प्रान्त संसार भर में अनूठा है। १६१८-१६ में पंजाब की नहरों से ८६ लाख एकड़ ज़मीन सींची गई। प्रान्त में नहरों और उनकी शाखाओं की लम्बाई १६६५४ मील है। और यह अनुमान किया गया है कि पंजाब की नहरें कम से कम ५५ करोड़ रुपये की वार्षिक फ़सल पैदा कर सकती हैं, जो कि कुल पूंजी का, जो उन पर खर्च की गई है, २½ गुना है।

आर्थिक दृष्टि से भी पंजाब की नहरों से बहुत लाभ हुआ है। संसार की कीमती से कीमती कान उसकी लोअर चनाब नहर से की तुलना नहीं हो सकती। १६११-१२ में इस नहर से ३४.०६ प्रति सैंकड़ा लागत पर आय हुई। प्रान्तवार आय जो कि सरकारी कृषि सम्बन्धी साधनों, अर्थात् नहरों और तालावों, द्वारा हुई उसका अनुमान इस प्रकार किया गया है:—

नाम प्रान्त	वार्षिक फसल का अनुमान
बर्मा	४.६५ करोड़ रुपये
बंगाल	६४ लाख ,,

बिहार उड़ीसा	....	७. ८६ करोड़ रुपये
अजमेर मारवाड़	....	७ लाख ”
पंजाब	....	५१. ८२ करोड़ ”
सीमान्त प्रान्त	....	२. १६ ” ”
सिन्ध	....	८. ४६ ” ”
बम्बई दक्खिन	....	३. ६७ ” ”
मध्य प्रदेश	....	१. ६६ ” ”
मद्रास	....	३१. ६६ ” ”
बिलोचिस्तान	....	५ लाख ”
कुल	....	एक अरब ८८ करोड़ ८ लाख रुपये

इन अंकों से यह अनुमान किया जा सकता है कि भारत को उन्नत और समृद्धिशाली अवस्था में रखने में नहरें कितना भारी भाग लेती हैं।

इस प्रसंग को छोड़ने से पहिले यह लिखना अनावश्यक न होगा कि जहां नहरों से देश की आर्थिक अवस्था सुधारने में बहुत सहायता हुई है, वहां उन से कई अंशों में हानि भी पहुंची है। ज़मीन, नहर की सिंचाई से, दिन प्रति दिन रेतीली होती जाती है। लोअर चनाव नहर के इलाके में इस बात की शिकायत बहुत ज़्यादा है। इस से ज़मीन कमज़ोर हो कर धीरे २ ऊसर हो जायेगी। इस दिक्कत को दूर करने के लिये नहरों के सिरों पर जाली इत्यादि बन्द लगाये जा सकते हैं। परन्तु फिर भी पूरा २ प्रबन्ध करना कठिन है।

दूसरी असुविधा यह है कि नहरों से ज़मीन के नीचे वाला पानी ऊपर आजाता है और कई इलाकों में (जैसे हाफिज़ाबाद) यह पानी इतने परिमाण में बढ़ गया है कि ज़मीन के कई भाग दलदल बन गये हैं। सब नहरी इलाकों की रिपोर्ट यह है कि कूंओं में पानी चढ़ रहा है। इस दिक्कत को जितना जल्दी दूर किया जाये उतना ही अच्छा होगा, नहीं तो बड़े २ उपजाऊ इलाके दल

दली हो जायेंगे। सरकार ने योग्य इन्जीनियर इस प्रश्न को हल करने के लिये नियुक्त किये हैं। परन्तु लिखने के समय तक कोई संतोषप्रद उपाय नहीं ढूंडा गया। नहरों में फर्श बनाने और किनारों को सीमेन्ट कर देने से कदाचित् उन के आसपास के इलाकों को कुछ लाभ पहुंच सके। परन्तु खर्च बहुत होने की सम्भावना है।

अमृतसर के नहरी इलाके में यह साधारण शिकायत है कि वहां के ढलवां इलाके में वर्षा के पानी के ठहरने से मलेरिया ज्वर फैलता है। नहरों के बनने से मलेरिया बहुत बढ़ गया है।

भारत के जलमार्ग

आवजाव के साधनों में जलमार्गों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। रेलों से जैसे सफ़र करने में या माल को स्थानान्तर ले जाने में समय और रुपये की बचत होती है, वैसे ही जलमार्गों को आवजाव का साधन बनाने में हमें कई प्रकार के लाभ होते हैं। प्राकृतिक जलमार्गों को सुधारने (उन पर घाट इत्यादि बनाने), कृत्रिम जलमार्ग तय्यार करने और उन्हें कामचलाऊ रखने में एक तो रेलों की अपेक्षा कम पूंजी की आवश्यकता होती है। दूसरा उनके द्वारा बारबरदारी के खर्च में बहुत बचत होती है। मुसाफ़िरों और बृहदाकारवाले वज़नी माल को बहुत थोड़े खर्च पर किश्तियों और स्टीमरों द्वारा दूसरे स्थानों पर पहुंचाया जा सकता है। यदि सौ मन माल नाव द्वारा किसी स्थान पर ले जाना हो, तो उस में कम खर्च का होना स्वाभाविक है, क्योंकि उसके ले जाने में कम वाष्प या मानवशक्ति खर्च होती है। यही कारण है कि हरएक देश में रेलों की वृद्धि के साथ २ जलमार्गों की उन्नति की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। राइन, डेन्यूब और सीन का महत्त्व रेलों के बन जाने से घटा नहीं प्रत्युत बढ़ा ही है।

भारतवर्ष में भी प्राचीनतम काल से जल मार्ग आवजाव का एक मुख्य साधन रहे हैं। चन्द्रगुप्त के काल में नावाध्यक्ष राज्य का एक मुख्य कर्मचारी होता था, जिस का काम जलमार्गों की देखरेख करना होता था। गंगा तत्कालीन जलमार्गों में, आजकल की तरह, प्रधान जलमार्ग थी, और प्रयाग, काशी और पाटलीपुत्र जैसे बड़े २ नगर उसके तटपर बसे हुए थे। मुसलमानों के के शासनकाल में भी, सड़कों के साथ २, जलमार्गों को भी काम में लाया जाता था। गंगा, यमुना, सिन्ध और पंजाब की पांच

नदियों के रास्ते से बड़ा भारी व्यापार होता था। बेड़ों के बिषय में कहा जाता है कि जनरल फिच १८० किश्तियों के साथ आगरे से बंगाल गया। लाहौर में ६० टन की नावें मिलती थीं। यमुना और गंगा के तट पर सैंकड़ों समृद्धिशाली नगर थे, जिन में दिल्ली, आगरा, इलाहाबाद, बनारस, पटना और मुर्शिदाबाद के नाम सर्वविदित हैं। क्लाइव ने जब १७५७ में बंगाल की प्राचीन राजधानी मुर्शिदाबाद में प्रवेश किया, उसका कहना था कि "वह शहर विस्तार, जनसंख्या और ऐश्वर्य में लन्दन से कहीं बढ़ाचढ़ा है"।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में हमारे जलमार्ग पूर्ववत् समुन्नत अवस्था में रहे। और उन के तटवर्ती शहरों की रौनक उसी प्रकार बनी रही। रेलों के बन जाने से भारतीय जलमार्गों का महत्त्व कम होना आरम्भ हुआ। सरकार की नीति सदा यही रही कि रेलें नदियों के साथ २ बनाई जायें, ताकि जलमार्गों का सारा व्यापार रेलों के हाथ में आजाये। पाश्चात्य देशों में जहां जलमार्गों को रेलों के मुकाबले से बचाने के लिये नदियों में घाट इत्यादि बनाने और उन में स्टीमर और अग्नबोट चलाने में हर प्रकार की उत्तेजना दी गई, वहां भारत में जलमार्गों को हानि पहुंचाकर रेलें बनाई गईं। फ्रांस में जलमार्गों को चालु अवस्था में रखने के लिये कानून द्वारा रेलों और जलमार्गों के किराये में बीस प्रतिसैंकड़ा अन्तर किया गया, ताकि जलमार्ग उन के गलघोटू मुकाबले से सुरक्षित रह सकें। परन्तु भारत के भाग्यविधाता उस समय इंग्लैंण्ड के पूंजीपति थे, जिन का विश्वास था कि रेलों के विस्तार से ही भारत को दरिद्रता और दुर्भिक्ष के पंजे से छुड़ाया जा सकता है। इस अवस्था में जलमार्गों के महत्त्व का कम होना स्वाभाविक था।

आजकल यद्यपि भारत के जलमार्ग अपनी पहिली शान खो चुके हैं, तो भी कई प्रान्तों में उनका उपयोग बहुत विस्तृत रूप से होता है। उनको हम तीन भागों में बांट सकते हैं:—

१-नहरें, जो, नौगम्य होने के कारण, सिंचाई और जलमार्ग दोनों तौर पर उपयोग में लाई जाती हैं। मद्रास में ऐसी तीन नहरें हैं:—(१) गोदावरी कैनाल, (२) किस्टना कैनाल और कुरनूल कड्डुपाह कैनाल। क्रमवार वे ४९३, ३३२ और १६० मील के लिये नौगम्य हैं। इन में एक लाख से अधिक किश्तियां हर वर्ष प्रवेश करती हैं। और दसलाख टन से ऊपर बोझ उन में लादा जाता है। उड़ीसा, मिदनापुर (बंगाल) और सोन (विहार) की नहरों में भी किश्तियों की भरमार रहती है, और उन से इन प्रान्तों के व्यापार को विशेष लाभ पहुंचता है। पंजाब और संयुक्त प्रान्त की नहरें अधिकतर सिंचाई के लिये अधिक उपयोगी हैं और जलमार्ग के तौर पर कम।

२-नहरें जिन का उपयोग केवल जलमार्ग के तौर पर होता है। मद्रास प्रान्त में इस प्रकार की बड़ी नहर बकिङ्घम कैनाल है जो २६२ मील तक नौगम्य है। यह नहर मद्रास शहर में से होकर गुज़रती है। इस में पानी ज्वारभाटा से आता है और कीमती तालों द्वारा उसे रोका जाता है, ताकि किश्तियां आसानी से गुज़र सकें। दो लाख टन से ऊपर माल किश्तियां लादकर उस में से गुज़रती हैं। बंगाल में इस प्रकार की दो नहरें हैं। एक का नाम कलकत्ता ऐण्ड ईस्टर्न कैनाल है और दूसरी का नदिया रिवर्ज़। पहिली नहर शाखाओं समेत ७३५ मील के लिये नौगम्य है। और यह कलकत्ते का सम्बन्ध सुन्दरबन, पूर्वबंगाल और आसाम से जोड़ती है। इस में से किश्तियां प्रतिवर्ष पन्द्रहलाख टन से ऊपर माल लाद कर गुज़रती हैं। और इस का महत्त्व प्रतिदिन बढ़रहा है। नदिया रिवर्ज़ कैनाल की लम्बाई ४७२ मील है, और प्रतिवर्ष छैः लाख टन से अधिक माल किश्तियां उस में लादकर प्रवेश करती हैं।

आर्थिक दृष्टि से इन दोनों प्रकार की नहरों से अधिकतर लाभ क्रमवार पूर्वी बंगाल और मद्रास की नहरों से हुआ है।

उत्तर भारत में जहां कहीं भी नहरों को जलमार्ग के तौर उपयोग में लाया गया है असफलता ही हुई है।

३-नदियां। तापती और नर्वदा में तीव्रप्रवाह और पथरीले भूमितल के कारण किश्तियां नहीं चल सकती। सिन्ध, गंगा और ब्रह्मपुत्र अपने मुख से सैकड़ों मील तक नौगम्य हैं। सिन्ध में डेरा इस्माइलखां तक और गंगा में फैजाबाद तक स्टीमर और बड़ी २ किश्तियां जा सकती हैं। ब्रह्मपुत्र डिबरूगढ़ तक नौगम्य है। प्रायः-द्वीप की बड़ी २ नदियां—महानदी, गोदारी और किस्टना-खाड़ियों के समीप ही नौगम्य हैं। अतएव उनको जलमार्ग के तौर पर बहुत कम उपयोग में लाया जाता है। बर्मा में इरावदी नदीमुख से ५०० मील के लिये भामो नगर तक नौगम्य है और बर्मा की आर्थिक उन्नति का जीवनाधार है।

इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट हो गया होगा कि भारतीय जलमार्गों की पहिले क्या अवस्था थी और अब क्या है। आजकल वे जिस दुरावस्था पर पहुंचे हुए हैं उसका प्रधान कारण भारत सरकार की रेलवे नीति है। रेलों पर इस समय तक पांच अरब से ऊपर रुपया खर्च किया जा चुका है। यदि इस में से दशांश भी जलमार्गों को उन्नत करने में लगाया जाता तो एकतो हम उन से लाभ उठा सकते और हमारे देशभाई नौविद्या में स्वयमेव शिक्षित हो जाते, और दूसरे करोड़ों रुपये जो ऐसे प्रान्तों में रेलें बनाने में खर्च किये गये हैं जहां जलमार्गों का आगे ही सुभीता है बच जाते। भूतकाल में जो हुआ सो तो हुआ। भविष्य में गवर्नमेन्ट की यह नीति होनी चाहिये, कि वह देश की स्थिति और काल को सन्मुख रखते हुए, जलमार्गों को उन्नत करने की चेष्टा करे, क्योंकि दरिद्र भारत की इसी में भलाई है।

——:o:——

जंगल

जलमार्गों के पश्चात जंगलों का वर्णन करना मनोरंजक होगा। भारत की वर्तमान सम्पत्ति और उस की भावी औद्योगिक एवम् कृषि सम्बन्धी उन्नति कई अंशों में उस के जंगलों पर अवलम्बित है। देश का लगभग ⅕ भाग जंगल है। इस से उनके महत्व का अनुमान हो सकता है। कागज, दियासलाई, तारपीन, कोयला, सन्दल का तेल, लाख, रबर, चमड़ा कमाने के लिये उपयोगी छिलके और नाना प्रकार की उपयोगी लकड़ी, ये सब वस्तुएं हमें जंगलों से प्राप्त होती हैं। दियासलाई के लिये लकड़ी काटने और छीलने के कारखाने पहाड़ियों पर जंगलों के समीप बनाने चाहियें, जैसा कि जापान में रिवाज है और फिर वह लकड़ी मैदानी कारखानों में दियासलाई बनाने के लिये लाई जा सकती है। इस से किराये की बचत होगी। कागज के उद्योग के लिये नाना के घास और लकड़ी मिल सकती है। परन्तु यदि बांस उस काम में लाये जायें, तो बहुत उन्नति की सम्भावना हो सकती है, क्योंकि उन का ज़खीरा भारत के जंगलों में बहुत बड़ा है।

एक और दृष्टि से भी जंगल भारत की आर्थिक अवस्था को सुधारने में अत्यन्त आवश्यक हैं, क्योंकि देश की जलवायु पर उनका उपयोगी प्रभाव पड़ता है। वर्षा का पानी वे जज्ब कर लेते हैं। इस प्रकार वे उसे व्यर्थ समुद्र की ओर बह जाने से रोकते हैं और फिर धीरे२ उस पानी को छोड़ कर आसपास की भूमि को लाभ पहुंचाते हैं।

यह बात सिद्ध हो चुकी है कि देश की वर्षा और जंगलों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। जंगल जितने अधिक घने और विस्तृत होंगे उतनी ही वर्षा ज्यादा होगी, और जितने कम उतनी थोड़ी। जंगलों के पत्ते खाद का काम देते हैं और समीपवर्ती बस्तियों को ईंधन और लकड़ी प्रायः मुफ़्त में ही मिल जाती है। भारतीय

कृषि के लिये जंगल घास और चारे का भाण्डार है, जो कि अकाल के दिनों में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। भारत की वृहद् जनसंख्या के लिये घी दूध का प्रबन्ध करने और पशुओं की संख्या बढ़ाने के लिये यह बहुत आवश्यक है कि भविष्य में जंगलों के इस अंग पर अधिक ध्यान दिया जाये। जंगलों की उन्नति के लिये ज़रूरी है कि विस्तृत चरागाहें सर्वसाधारण के उपयोग के लिये खुली छोड़ी जायें और चारा और घास की नियमपूर्वक पैदावार पर ध्यान दिया जाये। आजकल जंगल-विभाग लकड़ी और अन्य पदार्थों पर अधिक ध्यान देता है। परन्तु अच्छे और उत्तम किस्म के घास और चारे पैदा करना भी इस विभाग का कर्तव्य होना चाहिये।

जंगलों का नियमपूर्वक प्रबन्ध और रक्षा १८६० में आरम्भ हुई। १८६४ में भारत सरकार ने पहिला इन्सपेक्टर जनरल नियुक्त किया। परन्तु अनुभवी और शिक्षित अफसरों की कमी से काम भलीभान्ति न हो सका। इस कमी को पूरा करने के लिये १८७२ में में देहरादून में फारेस्ट कालिज खोला गया। बर्मा और मद्रास में फारैस्ट कालेज १९१८ और १९१२ में क्रमवार खोले गये। १८६५ में जंगलों के लिये पहिला कानून पास किया गया। परन्तु वर्तमान प्रबन्ध १८७८ के कानून के अनुसार है, जो मद्रास, बर्मा व आसाम के अतिरिक्त (जिन के लिये भिन्न कानून है) सारे देश पर लागू है।

कानून के अनुसार जंगल तीन भागों में बांटे गये हैं। (१) रिज़र्व जंगल, जिन में सब बड़े २ और उत्तम किस्म के जंगल आ जाते हैं। इनका प्रबन्ध बहुत ध्यानपूर्वक किया जाता है। ऐसे जंगलों में प्रवेश और आवागमन बहुत कम होने दिया जाता है। (२) रक्षित जंगलों का प्रबन्ध कुछ नर्मी से किया जाता है। उन को आसपास की बस्ती चारा लकड़ी, घास फूस इत्यादि के लिये उपयोग में ला सकती है। (३) अवर्गीकृत जंगल, जो नियमपूर्वक जंगल विभाग के प्रबन्ध में नहीं आये।

पहले दो प्रकार के जंगलों के प्रबन्ध में जो भेद है उसका इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है। रिजर्व जंगलों में हर एक ऐसी बात करना जुर्म है जिस की आज्ञा न दी गई हो। और रक्षित जंगलों में कोई ऐसी बात करना अपराध नहीं जिस की मनाही न की गई हो।

३० जून १६१६ को ब्रिटिश भारत के जंगलों का कुल क्षेत्रफल २६१४६८ वर्ग मील था, जो कि सारे देश के पांचवें भाग से कुछ अधिक है।

आर्थिक दृष्टि से १६१५-१६ तक जंगलों से वार्षिक औसत आय ३७१३०००० रुपये हुई। व्यय कुल आय का लगभल ५७ प्रतिसैकड़ा हुआ। इस प्रकार खालिस बचत १६०१०००० रुपये हुई।

औद्योगिक कमीशन (१६१६-१८) ने रिपोर्ट की है कि जंगलों से आय अब तक कम होती रही है। भविष्य के लिये कमीशन ने सिफ़ारिश की है कि आवजाव के मार्गों को उन्नत करना चाहियें और खोज और प्रयोग व्यापारिक दृष्टि होने चाहियें। इसी प्रकार जंगलों का प्रवन्ध और उपयोग भी देश की औद्योगिक और व्यापारिक उन्नति को सन्मुख रखकर करना चाहिये।



सारांश

भारतीय सम्पति और पैदावार की न्यूनाधिकता के कारणों इत्यादि पर हमने पिछले पृष्ठों में पूर्ण विचार किया है। इस विचार से सिद्ध होता है कि यद्यपि भारत में सम्पति के साधनों और प्राकृतिक पदार्थों की कमी नहीं, तो भी वर्तमान पैदावार बहुत कम है। जब हम देश के विस्तार, उस के इतिहास और जनसंख्या से उस की तुलना करते हैं, तब दूसरे देशों की तुलना में तो भारत बहुत ही पीछे है। परन्तु आधुनिक औद्योगिक उन्नति में, जैसा कि हमने देखा है, हम और भी पिछड़े हुए हैं। वर्तमान औद्योगिक परिवर्तन, जो कि देश में गतशताब्दी से हो रहा है, अधिकतर युरोपीयन लोगों के साहस का परिणाम है। और अबतक जिस ओर भी उन्नति हुई है, सब उनके उत्साह, उनकी पूंजी और उनकी बुद्धि का नतीजा है। इस उन्नति में भारतीयों का भाग बहुत कम है। वास्तव में आधुनिक औद्योगिक उन्नति में भारत का दर्जा वही है जो बोझ उठानेवाले कुली और पानी खींचने वाले कहार का है। हां, मज़दूरी निःसन्देह हमारे हाथ में आती है। और कुछ पढ़े लिखे बाबूओं को क्लर्की इत्यादि नौकारियां भी मिल जाती हैं। परन्तु सारा का सारा लाभ विदेशी लोगों के हाथ में चला जाता है। इस लिये जब हम भारत की औद्योगिक उन्नति पर लम्बे चौड़े बयान सुनते हैं तो हमें उस समय यह भूल न जाना चाहिये कि भारतीयों का इस में भाग केवल ज़बानी जमाखर्च तक ही परिमित है। उदाहरण के लिये नीचे लिखे उद्योगधन्दे व कारखाने बिलकुल या अधिकतर विदेशियों के हाथ में है, वही उन के चलाने वाले, कर्ताधर्ता वा लाभ के स्वामी हैं :—

१ रेलें (उन को छोड़ कर जो देशी रियासतों और सरकार के हाथ में हैं)।

२ ट्रेमवे कम्पनियां।

३ जूट के कारखाने।

४ सोने की कानें।

५ ऊनी कपड़ों के कारखाने (धारीवाल और कानपुर)।

६ काग़ज़ के कारखाने।

७ शराब बनाने के कारखाने।

८ कोयले की कानें।

१० चाय व काफ़ी के खेत।

११ चावल साफ़ करने या लकड़ी चीरने के कारखाने।

१२ चीनी, चमड़ा, दियासलाई, लोहा, व फौलाद के उद्योगधन्दे।

१३ नील के खेत।

इन में से कुछ एक उद्योगधन्दों में भारतियों के भी हिस्से हैं, परन्तु उन पर अधिकतर युरोपीयन लोगों का ही स्वामित्व है। रुई व कपड़े का उद्योगधन्दा, साबुन, बनाना, बर्फ़ के कारखाने, आटा पीसने की चक्कियां व छापेखाने इत्यादि अधिकतर भारतवासियों के हाथ में हैं।

बम्बई में रुई के १२२ कारखाने हैं, जिन में से केवल १२ युरोपीयन लोगों के हाथ में हैं। यही एक उद्योगधन्दा है जिस में भारतवासियों का ही भाग है और उस में भी पारसी लोग अधिकतर स्वामी हैं। इस के सिवाय दूसरा कोई भी उद्योगधन्दा नहीं जिसको हम वास्तविक अर्थों में भारतीय उद्योगधन्दा कह सकें।

बंगाल और वर्मा सारे देश से खनिज और कृषिसम्बन्धी सम्पत्ति में बढ़े हुए हैं। परन्तु यह कितनी खेदजनक बात है कि दोनों प्रान्तों में सारा का सारा भूमिगर्भस्थ धन (कानें इत्यादि) देशवासियों के हाथों से निकल कर विदेशियों के अधिकार में चला गया है। बंगाल की कोयले की कानें कौड़ियों के दाम बंगाल वालों ने युरोपीयन लोगों को स्वयमेव देदीं। वर्मा में तो खैर

धर्मावाले शायद तभी सचेत होंगे जब उन के लिये कुछ रह ही न जायेगा। पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा से चकाचौंध होकर बंगाल के विद्वानों और पण्डितों ने गतशताब्दी से कानून काव्य और वाङ्मय में ही अपनी प्रतिभा को प्रगट किया। उद्योगधन्दा को उन्होंने अपने राष्ट्रीय जीवन का अंग नहीं बनाया। और अपने कीमती सम्पति के साधन व्यर्थ ही में हाथ से खो बैठे। इस बात को सन्मुख रखते हुए एक सज्जन ने कहा है कि पठित बंगाली समाज का उद्योग-धन्दा कानून है।

देश की कानों और अन्य खनिज सम्पति के ठेके विदेशियों को देने के विरुद्ध कई देशभक्त भारतवासियों ने आवाज़ उठाई है। डा. पी. सी राय ने, जो योग्य रसायनशास्त्रवेता होने के अतिरिक्त एक सफल व्यापारी भी हैं, सरकार की इस रिआयत को आर्थिक लूट के नाम से पुकारा है। उन की यह मांग है कि सरकार को शीघ्र ही इस खुली लूट को बन्द कर देना चाहिये। परन्तु हम इन ठेकों के दिये जाने के चाहे कितने ही विरोधी हों, अंगरेज़ यह कहे विना नहीं रह सकते कि दोष अधिकतर हमारा ही हैं। यदि हम अपने सम्पत्ति के प्राकृतिक साधनों और गड़े हुए ख़ज़ानों से लाभ नहीं उठाते, तो आज कल वीसवीं शतावदी में असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है कि विदेशी उन को व्यर्थ दबे रहने दें। वे लोग जो अपनी दुर्बलता के कारण अपनी कमाई व सम्पत्ति की रक्षा नहीं कर सकते, विदेशियों के आक्रमण और लूट से बहुत देर तक नहीं बच रह सकते। सरकार का इन उद्योगधन्दों को बाध्यरूप से विदेशियों के हाथ से छीन लेना कदाचित् व्यक्ति-गत अधिकारों में हस्तक्षेप समझा जाये। इस समय ऐसा प्रस्ताव कार्य-रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। एक ही उपाय जो देश को इस अवस्था से उन्नत कर सकता है वह यह है कि देश के धनिक आदमी और नवयुवक अपने ध्यान को कानून के पढ़ने और ज़बानी पालिटिकस से हटा कर उद्योगधन्दों की ओर

लगावें। पिछली बातों पर शोक करने या विदेशियों पर दोषारोपण के बदले हमारे नवयुवकों को देश की आर्थिक अवस्था सुधारने में लग जाना चाहिये, क्योंकि अभी तक हाथ से बहुत कुछ नहीं गया।



जनसंख्या का प्रश्न

देश की बढ़ती हुई जन संख्या को देखकर और दूसरी ओर इस बात को ध्यान में रखते हुए कि उस की पैदावार, औद्योगिक और कृषिसम्बन्धी, कुछ अधिक नहीं, कई लेखकों का यह विचार है कि भारत की ज़मीन या प्राकृतिक साधन इस बढ़ती हुई जनसंख्या का भरणपोषण नहीं कर सकते। और वे उस के निर्वाह के लिये अपर्याप्त हैं। भारत की दरिद्रता का कारण इन लोगों की सम्मति में यही है। पहिला विचारक जिस ने जनसंख्या और दरिद्रता के सम्बन्ध पर ज़ोर दिया वह पादरी मालथस था। उस के मतानुसार मनुष्यों की जनसंख्या सर्वदा बढ़ती रहती है। परन्तु जीवनसामग्री उसी प्रमाण से नहीं बढ़ सकती। इस लिये हर एक को खाने पीने के लिये पर्याप्त नहीं मिल सकता। और इस प्रकार समाज में में अकाल और नाना प्रकार के रोग सर्वदा फैलते रहते हैं, जिनसे प्रकृति स्वयमेव जन-संख्या की वृद्धि को रोकती है। इस प्रकार की रुकावटों को प्राकृतिक रुकावटें कहते हैं। परन्तु आबादी के बढ़ाव की बुराई को रोकने के लिये मनुष्य स्वयमेव कुछ उपायों का अवलम्बन करता है, जैसे विवाह न करना या बड़ी आयु में विवाह करना। जिस से संतानोत्पत्ति कम होती है और जान बूझ कर संतान कम पैदा करना। ऐसी रुकावटों को वे निरोधक रुकावटें कहते हैं। ऐसा करने से समाज रोगों इत्यादि से बच सकता है।

इस बात को देखने के लिये कि क्या किसी देश में जनसंख्या वहां के खाद्यद्रव्यों की अपेक्षा बढ़ी हुई है या नहीं, उस देश के जन्ममरण के अंकों को देखना चाहिये। यदि मृत्यु के अंक अधिक होंगे, तो स्पष्ट होगा कि उस देश में दरिद्रता अधिक है, जो कि इस बात का प्रमाण है जनसंख्या के बढ़ जाने से हर एक मनुष्य को पेट भर खाने को नहीं मिलता। और प्रकृति जन संख्या को कम करने के लिये अपने साधनों को प्रयोग कर रही है। वास्तव में यह कोई नवीन कानून

नहीं, जो केवल मनुष्य समाज पर ही घट सकता हो। हम देखते हैं कि हर एक जीव की यह स्वाभाविक इच्छा है कि उस की संतान बढ़े और उस की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हो। यह केवल प्राकृतिक कारण हैं जिन से इस वृद्धि में रोकथाम होती है। उदाहरण के लिये यदि एक काडं मछली के अंडों और बच्चों को सुरक्षित रहने दिया जाये, तो उस की तीन पीढ़ियों में अर्थात तीन चार वर्ष में सारा समुद्र काडं मछलियों से भरकर एक ठोस चीज़ बन जायेगा। यही अवस्था मक्खियों की है। हाथी सब से कम सन्तान उत्पन्न करता है। उसके बच्चों को भी यदि न मरने दिया जाये, तो कुछ हज़ार वर्ष में पृथवी पर हाथी ही हाथी हो जायें। परन्तु प्रकृति अगणित उपायों से इन जीवों की संतान और अंडों को कम करती रहती है, जिस से उन की संख्या और खाद्यद्रव्य में ठीक अनुपात बना रहता है। मानव समाज में यह अनुपात यदि लोग जान बूझ कर, विशेष सिद्धान्तों पर आचरण करके, स्थिर न रखेंगे, तो यहां भी प्रकृति अपने तरीकों से उसे स्थिर करदेगी, जिसका परिणाम यह होगा कि रोग, युद्ध, अकाल और अन्य प्रकार के संकट सर्वदा उन पर गिरते रहेंगे। सारांश में यह जनसंख्या का सिद्धान्त है। बहुत से अर्थशास्त्रवेताओं की सम्मति में भारत उस अवस्था में है जिस में प्रकृति अपने आप बढ़ी हुई जनसंख्या को खाद्द्रव्यों के अनुसार परिमित कर रही है।

किसी देश की जनसंख्या दो उपायों से बढ़ सकती है:—(१) देश से बाहर जानेवालों की अपेक्षा आनेवालों की संख्या अधिक हो; (२) प्राकृतिक साधन से, अर्थात् जन्म के अंक मृत्यु से अधिक हों। पहिले बात भारत पर घट नहीं सकती। इस लिये यहां की जनसंख्या प्राकृतिक कारणों से ही बढ़ सकती है। जनसंख्या की प्राकृतिक वृद्धि में हमें यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि विवाह करने का भारत में आम रिवाज़ है और संतान का होना धार्मिक एवम् सामाजिक कर्त्तव्या को पूरा करने के लिये अत्यन्त आवश्यक

समझा जाता है। इन दोनों बातों की व्याख्या करते हुए हम भारत और अन्य देशों के जन्मरण के अंक नीचे देते हैं।

देश	प्रति हज़ार पैदा होने वालों की संख्या	प्रति हजार मरने वालों की संख्या
भारतवर्ष	३६-५८	३४-२
जापान	३२-८५	२०-८६
इंगलैंड व वेल्स	२६-८	१५-१५

भारत में मृत्यु और जन्म के अंक एशिया के सब देशों से अधिक हैं। इन अंकों से स्पष्ट होता है कि यद्यपि हमारे देश में जन्म के अंक बहुत अधिक हैं, परन्तु फिर भी आबादी का बढ़ाव दूसरे देशों की अपेक्षा कम है, जिस से सिद्ध होता है कि उस में विशेष बढ़ाव की सम्भावना नहीं। क्योंकि पहले ही वह खाद्यद्रव्यों के अनुपात से बढ़ी हुई है। और प्रकृति अपनी रुकावटों को काम में ला रही है।

कई एक विद्वान इस बात को मानने के लिये लिये तैयार नहीं कि भारत की जनसंख्या आवश्यकता से अधिक है। और भविष्य में वृद्धि की सम्भावना नहीं। उन की ओर से अपने पक्ष की पुष्टि में नीचे लिखी युक्तियां दी जाती है :—

१—भारत की लगभग [illegible] आबादी देश के [illegible] क्षेत्रफल पर बसी हुई है और [illegible] बाकी [illegible] क्षेत्रफल पर। इस से सिद्ध होता है कि अन्तिम लिखित क्षेत्रफल पर अभी आबादी की बहुत गुंजाइश है।

२—बर्मा और आसाम में आबादी बहुत कम है। वहां भी आबादी अभी बढ़ सकती है।

३—सिंचाई और कृषि सम्बन्धी उन्नति से अन्न की पैदावार बढ़ाई जा सकती है, जिस से बढ़ी हुई जनसंख्या का बड़ी आसानी से गुज़ारा हो सकता है।

४—देश के कारखानों के स्वामी मज़दूरों की कमी की शिकायत करते हैं। इस से स्पष्ट होता है कि आबादी अधिक नहीं और

निर्वाह के साधन कम नहीं हो गये।

इन युक्तियों पर ध्यान देने से हमें पता लगता है कि वे सार-रहित हैं। देश का सारा क्षेत्रफल खेती और बस्ती के योग्य नहीं, क्योंकि इस सारे क्षेत्रफल में झील जंगल, नदियां, और ऊसर इलाके भी सम्मिलित हैं। कृषि से आजकल से अधिक जनसंख्या का निर्वाह होना असम्भव है, क्योंकि भारत में प्रतिवर्गमील जुताऊ भूमि की आबादी इंगलैण्ड की प्रतिवर्ग मील जुताऊ भूमी की आबादी से आगे ही तीन चार गुणा अधिक है। इस से अधिक जनसंख्या होने का तात्पर्य यह है कि रहनसहन की परिपाटी, जो आगे ही दरिद्रता के कारण बहुत नीची है, और भी कम हो जायेगी। मज़दूरों की कमी की शिकायत अधिकतर चाय के खेतों के स्वामी और कारखानेवाले करते हैं, जो कि अपने मज़दूरों को बहुत कम वेतन देते हैं। और साथ ही इन कारखानों और बगीचों का जीवन इतना नारकिक है कि कोई भी इज़्ज़त वाला मज़दूर वहां काम करना पसन्द नहीं करता। हमारे विचार में यह सब वादविवाद एक गलत दृष्टिकोण को लेकर किया जाता है। आबादी की देश में मिलनेवाले खाद्यपदार्थों से तुलना करना और उस से किसी परिणाम पर पहुंचना युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि आजकल जनसंख्या की समस्या का स्वरूप और है। हमें जनसंख्या की देश की सम्पत्ति से तुलना करनी चाहिये। क्योंकि यदि सम्पत्ति हो, तो खाद्य-पदार्थ दूसरे देशों से खरीदे जा सकते हैं और आबादी का निर्वाह हो सकता है।

आजकल यदि इङ्गलैण्ड के निवासियों को उस में उत्पन्न हुए खाद्यपदार्थों पर निर्वाह करना पड़े, तो वहां की $\frac{7}{8}$ आबादी भूखी मर जाये। परन्तु वे व्यापारिक एवम् व्यवसायिक उन्नति से अपनी सम्पत्ति में वृद्धि करके सारे संसार से खाद्यद्रव्य और अन्य पदार्थ मंगा सकते हैं। वास्तव में अन्तर्जातीय व्यापार ने जनसंख्या के प्रश्न को बिलकुल बदल दिया है। १५३० में इंगलैण्ड की आबादी ४५

लाख थी। और क्योंकि देश का निर्वाह केवल कृषि पर था और खाद्यद्रव्य बाहर से आते थे, इस लिये उस समय ५५ लाख का भी गुज़ारा कठिनता से होता था। परन्तु उसी इंगलैण्ड में जहां कदाचित् आगे की अपेक्षा अनाज कम पैदा होता है, आजकल ४ करोड़ ५० लाख की आबादी है। इस प्रकार यदि भारत को केवल कृषि पर ही अवलम्बित रहना है, तो निःसन्देह वर्तमान जनसंख्या भी अधिक है। और अधिक बढ़ाव की संम्भावना ही नहीं हो सकती। परन्तु यदि देश औद्योगिक उन्नति कर जाये और प्राकृतिक सम्पत्ति का, व्यापार के बढ़ जाने से, सदुपयोग होने लगे, तो जन संख्या का प्रश्न कुछ समय के लिये स्थगित किया जा सकता है और सारी आबादी का सुखपूर्वक निर्वाह हो सकता है। इस लिये यह कहना कि भारत अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या का भरणपोषण नहीं कर सकता निर्मूल है। वर्तमान जनसंख्या तो क्या, इस से भी अधिक जनसंख्या का यहां भलीभान्ति निर्वाह हो सकता है यदि भारतवासी कृषि से ध्यान हटा कर उद्योगधन्दों की ओर लगावें जिस से देश की सम्पत्ति में वृद्धि हो। इस औद्योगिक उन्नति के अभाव से और देश की वर्तमान अवस्था को देख कर यह कहना पड़ेगा कि सब दुखों का इलाज यही है कि खेती पर निर्भरता, जो बढ़ रही है, कम की जाये या अधिक न बढ़ने पावे।

भारत का सामाजिक संगठन

भारतीय पैदावार के मानवी अंश पर विचार करते हुए दूसरी बात जो दृष्टिगोचर होती है वह भारत का जातपात का रिवाज है। इस से एक जाति में पैदा हुआ मनुष्य न केवल अपने सजातियों से सब प्रकार की सहायता ले सकता है और विवाह और अन्य रस्मों में उनका साथ देता है प्रत्युत उस के लिये जीवन का पेशा भी जन्म से स्थिर हो जाता है, जिसे वह जातिभ्रष्ट हो कर ही बदल सकता है। इस में कोई सन्देह नहीं कि आरम्भ में यह विभाग जन्मानुसार नहीं परन्तु धन्दे के अनुसार श्रमविभाग के सिद्धान्त पर अवलम्बित था। लेकिन शताब्दियों के गुज़र जाने से यह विभाग जन्मानुसार हो गया। जातपात का आर्थिक पहलु यह है कि इस से किसी धन्दे या काम के लिये मज़दूरों की उपलब्धि बिलकुल परिमित हो जाती है और मांग घटाव व बढ़ाव के अनुसार कम व अधिक नहीं हो सकती। इस का परिणाम यह होता है कि यदि मांग कम हो, तो सारे के सारे मज़दूर कम वेतन लेने के लिये तय्यार हो जाते हैं। और यदि अधिक हो, तो मज़दूरों की अवस्था एकाधिकारी जैसी हो जाती है जो सब कुछ अपनी इच्छानुकूल करवा सकते हैं। देश की आर्थिक अवस्था में परिवर्तन होने से जातपात से जकड़ा हुआ समाज नयी परिस्थिति के अनुसार शीघ्र अपने को बदल नहीं सकता। इस से न केवल उस समाज को हानि पहुंचती है प्रत्युत देश को भी। परिवर्तन में ही जीवन है, परन्तु इस सिद्धान्त पर आचरण नहीं हो सकता। मनुष्य को अपनी योग्यता और स्वभाव के अनुसार अपना पेशा चुनने का स्वत्व होना चाहिये। परन्तु जातपात के बन्धन इस स्वत्व को छीन लेते है। इस प्रणाली के पक्ष में यह कहा जाता है कि मुकाबले के सिद्धान्त को रोक कर यह समाज के निर्बल से निर्बल मनुष्य के लिये भी निर्वाह करने और समाज में स्थिति बनाने में उपयोगी है। इस से उस की आन भी स्थिति रह

सकती है। जातपात की अनुपस्थिति में या उस के टूट जाने से समाज फिर भी भिन्न श्रेणियों में बट जायेगी। वे श्रेणीयां धन पर आश्रित होंगी। धन से अनेक जातियां और उपजातियां नहीं बन जाती है। परन्तु अमीर और ग़रीब, साहुकार और मज़दूर का विभाग जातपात की प्रणाली से भी बढ़कर ख़राबियां पैदा कर रहा है।

इस प्रश्न के दोनों पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् भी, वर्तमान अवस्था को सन्मुख रखते हुए, हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि समाज की वर्तमान बनावट में जातपात का रहना अनुचित है और भारत की व्यवसायिक उन्नति में रुकावट है। और यह मत किसी साम्प्रदायिक, समाजिक या राजनैतिक पक्षपात पर निर्भर नहीं, प्रत्युत केवल प्रश्न के आर्थिक पहलु पर विचार करके स्थिर किया गया है।

भाग दूसरा

दाम का निधारण

और

विनिमय

दाम का निर्धारण

अर्थशास्त्र की दृष्टि से संसार के पदार्थ दो भागों में बांटे जा सकते हैं, एक मुफत पदार्थ और दूसरे आर्थिक पदार्थ। वे सब पदार्थ, जो इस संसार में हमारी मांग के मुकाबले में बहुत है और अपनी प्राकृतिक अवस्था में पाये जाते हैं, मुफ्त पदार्थ कहलाते हैं, जैसे वायु, नदियों का पानी और जंगल की लकड़ी। परन्तु इन्हीं वस्तुओं में जब एक दो गुण आजाते हैं, तो उन को आर्थिक पदार्थ कहते हैं। उन सब वस्तुओं को, जिनका कुछ उपयोग हो, जिन पर कुछ परिश्रम किया गया हो, जो मांग की अपेक्षा थोड़ी हों और जो विनिमयसाध्य हों, आर्थिक पदार्थ कहते हैं। लकड़ी जब जंगल में होती है, तो उस का कुछ दाम नहीं होता, क्योंकि उस में पड़ी हुई लकड़ी में ऊपर लिखी विशेषताओं में से कोई भी विशेषता नहीं पाई जाती। परन्तु उस लकड़ी पर जब कुछ परिश्रम किया जाये और जंगल से लाई जाये, तो उसकी मांग होने से उसका मूल्य हो जाता है। जब वह लकड़ी जंगल में पड़ी थी, तब वह किसी के काम में नहीं लाई जा सकती थी, और न ही उस की कोई मांग थी। इन विशेषताओं के न होने से उसका कुछ भी मूल्य न था। ज्यों ही कुछ परिश्रम करके वह जंगल से लाई गई, तो उस में ऊपर लिखे चारों गुण आगये। और वह मुफ्त पदार्थ के स्थान में आर्थिक पदार्थ बन जाती है। अर्थशास्त्र में उन सब वस्तुओं को जिन की गणना आर्थिक पदार्थों में है सम्पत्ति कहते हैं। एक टाईपिस्ट के टाईप करने की योग्यता उसके दृष्टिकोण से सम्पत्ति है। परन्तु समाज उस की योग्यता को सामाजिक दृष्टि से सम्पत्ति नहीं कहेगा। क्योंकि वह योग्यता विनिमय साध्य नहीं। परन्तु एक व्यापारी की साख सम्पत्ति है, क्योंकि

वह एक दूसरे से खरीदी जा सकती है। इस प्रकार प्रायः सर्वत्र वायु हमारी मांग से अधिक होती है। परन्तु खानों में मनुष्य के श्वास लेने के लिये पर्याप्त वायु न मिलने के कारण वह एक आर्थिक पदार्थ बन जाती है। इस का सारांश यह है कि अर्थशास्त्र में केवल आर्थिक पदार्थ ही सम्पत्ति कहे जाते हैं। बाकी वस्तुएं, जिन को मुफ़्त पदार्थ कहते हैं, सम्पत्ति नहीं कही जातीं।

इसके पश्चात अब हम इस बात का विचार करेंगे कि किसी एक पदार्थ का दाम किस प्रकार निर्धारित किया जाता है। इस विषय पर भिन्न २ लेखकों के भिन्न २ मत हैं। पहिला मत रखनेवाले यह कहते हैं कि किसी एक वस्तु के दाम ठहराने में मांग सब से बड़ा अंग है। जिस वस्तु की मांग अधिक होगी, और वह वस्तु उस मांग से कम होगी, तो उसका दाम, उस वस्तु की अपेक्षा जिसकी मांग थोड़ी होगी, अधिक होगा। जब हम बाजार में एक मेज़ खरीदने जाते हैं, तो हम इस बात पर ध्यान नहीं देते कि मेज़ बनानेवाले ने कितनी लकडी और कितने दिन खर्च किये। हम केवल यह देखते हैं कि मेज़ के लिये कितनी मांग है। और उस मांग के अनुसार हम उस मेज़ के दाम देंगे। हम इस बात का बिलकुल विचार नहीं करेंगे कि अमुक दाम पर बनाने वाले को लाभ होगा व हानि, या उसको वास्तविक खर्च मिलेगा या कुछ कम। एक मूर्ति बनाने वाला एक पत्थर के टुकड़े से २० वर्ष खर्च करके एक मूर्ति बनाता है। जब वह बाजार में उसे बेचने आता है, तो उस को खरीदने वाले पांच रुपये कीमत डालते हैं। वे लोग इस बात की परवाह नहीं करते कि बनाने वाले ने अपने जीवन का एक बड़ा अंश उस मूर्ति के बनाने में खर्च किया है। वे तो केवल यह देखते हैं कि उस मूर्ति के कितने खरीदार हैं, और उन में से जिस को वह मूर्ति सब से अच्छी लगती है वह कितने रुपये देने को तय्यार है। इस लिये जो सब से अधिक दाम अर्थात् पांच रुपये देता है खरीद लेता है। इस लिये इस मत के

आदमी मांग को ही किसी वस्तु के दाम ठहराने में सब से ऊंचा दर्जा देते हैं। किसी एक दिन गर्मी के अधिक होजाने से हम बर्फ को आने सेर खरीदने को तय्यार हो जाते हैं। हम जानते हैं कि एक सेर बनाने में बहुत कम खर्च आता है। परन्तु चूंकि उस विशेष दिन बर्फ की मांग अधिक है, इस लिये हम इतने दाम देकर भी उसे खरीद लेते हैं। हम उसकी लागत की कुछ परवाह नहीं करते।

दूसरे लोगों का यह मत है कि वस्तु का दाम ठहराने में लागत ही सब से बड़ा कारण है। उन के विचार में मांग दाम के ठहराने में कुछ काम नहीं करती। वे कहते हैं कि, मनुष्य का सब खर्च एक कुरसी के बनाने में पांच रुपये आता है। जब वह कुरसी को बाज़ार में बेचने जाता है, तो कम से कम उसे उस के पांच रुपये अवश्य मिलेंगे, क्योंकि उस से कम दाम पर वह उसे नहीं बेचेगा। परन्तु यदि ऐसा हो भी कि कुरसी की मांग न होने से उस के बनानेवाले को केवल चार रुपये ही मिलें, तो कारीगर भविष्य में कुरसी बनाना छोड़ देगा। जब उस को अपना वास्तविक खर्च ही नहीं मिलता, तो वह कुरसियां क्यों कर बनायेगा। इस का परि- णाम यह होगा कि कुरसियों की उपलब्धि कम हो जायेगी और उन की मांग उतनी ही रहने से दाम तेज़ हो जायेंगे। दाम के बढ़ जाने का अन्तिम परिणाम यह होगा कि वह कुरसी बनाने वाला जो इस काम को छोड़ गया था (क्योंकि उस को अपनी वास्तविक क़ीमत भी नहीं मिली थी) फिर वही काम करने लग जायेगा। बस, इस लिये स्पष्ट है कि वस्तु के दाम ठहराने में कीमत तय्यारी माल सब से बड़ा कारण है। यह मत इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध अर्थ- शास्त्रवेत्ता रिकर्डो और उस के अनुयायियों का है।

परन्तु थोड़ा सा विचार करने से मालूम होता है कि दोनों मत कई अंशों में ठीक हैं, नहीं तो दोनों ही गलत हैं। दोनों की गलती का कारण यह है कि उन्हों ने समय पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। एक ने

मांग पर जोर दिया है, दूसरे ने कीमत तय्यारी माल पर। समय को दोनों ही भूल गये हैं। विलायत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्रवेता अध्यापक मारशल ने इस भूल को जाना है। और समय को ध्यान में रख कर ऊपर लिखे दोनों के मतों की ग़लती को दूर करके उन के आधार पर अध्यापक महोदय ने अपना नया सिद्धान्त निकाला है। वे कहते हैं कि वस्तु का दाम निर्धारण करने में न केवल मांग और केवल लागत काफ़ी है, प्रत्युत समय का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। वह काल की दृष्टि से इस प्रश्न को दो भागों में बांटते हैं। वे कहते हैं कि अल्प-काल के लिये किसी वस्तु का दाम ठहराने में मांग और दीर्घकाल के लिये किसी वस्तु का दाम ठहराने में कीमत तय्यारी माल मुख्य कारण होती है। किसी एक विशेष दिन बर्फ की मांग कम होने से वह पैसे की दो सेर बिकती है, यद्यपि उस बर्फ की एक सेर की लागत दो पैसे है। यदि सदा के लिये बर्फ पैसे की दो सेर बिकेगी, तो बर्फ बनानेवाले उसे बनाना छोड देंगे। वे तभी बनायेंगे जब उनको कुछ लाभ होगा। थोडे समय के लिये तो वे नुकसान उठाने के लिये तय्यार हैं, परन्तु सदा के लिये वे ऐसी बात नहीं करेंगे। वे बर्फ तभी बनायेंगे जब कि उनकी बर्फ की कीमत लागत से कुछ अधिक पडेगी। बस, इस से स्पष्ट है कि दीर्घकाल के लिये कीमत तय्यारी माल और अल्पकाल के लिये किसी वस्तु का दाम निश्चित करने लिये मांग मुख्य कारण है। अध्यापक मारशल कहते हैं कि जैसे एक कागज के काटने के लिये कैंची के दोनों फल काम करते हैं, वैसे ही किसी वस्तु के दाम को ठहराने के लिये, कैंची के दोनों फलों की तरह, मांग और उपलब्धि दोनों काम करते हैं—चाहे किसी खास समय पर एक विशेष अंग अधिक प्रभाव डाले है और दूसरा कम।

इस सारे विचार से यह बात स्पष्ट होगी कि उस में मुकाबले के सिद्धान्त का आश्रय लिया गया है। इस लिये कुछ लोगों का यह विचार है कि भारत में, जहां वस्तुओं के

दाम निश्चित होने में रिवाज़ का बहुत भारी भाग है, यह सिद्धान्त नहीं घटता। इस में कुछ सच्चाई है। परन्तु गत अस्सी वर्षों में रिवाज का प्रभाव देश के बहुत से भागों में कम हो गया है। और मुकाबल के सिद्धान्त के अनुसार एक वस्तु का एक ही दाम एक ही समय पर सारे देश में देखा जाता है।

भारतीय सिक्का और उसका इतिहास।

भारतीय सिक्के का इतिहास बहुत मनोरंजक है और साथ ही कठिन भी। क्योंकि गत आधी शताब्दी से इस में इस प्रकार के परिवर्तन समय २ पर किये जाते रहे हैं कि वर्तमान स्थिति को समझना एक पण्डित ही का काम हो सकता है। सच तो यह है कि भारत सरकार या ऐसा कहिये कि भारतमंत्री ने भारत के करंसी सम्बन्धी विषयों में धींगाधींगी हस्ताक्षेप करने और नित्य नये अनुभव करने में गतवर्षों में इतनी चालाकी और उत्साह से काम लिया है कि अब भारत में इस बात को सब मानते हैं कि यह सब कुछ अंगरेज़ व्यापारियों के लिये किया जाता रहा है। भारत को तो इस नीति से करोड़ों रुपये का घाटा ही उठाना पड़ा है। करंसी सम्बन्धी बातें कुछ पेचीदा होती हैं, और कई बार करंसी चलाने वाली गवर्नमेन्ट उसको व्यर्थ और भी पेचीदा बना देती है। क्योंकि ऐसा करने से उस को अधिक लाभ होता है। इस बात को सब जानते हैं कि युद्धकाल में सिक्कों की बहुतायत से, और विशेष कर कागज़ी नोटों की अधिकता से, रूस, जर्मनी, फ्रान्स और अन्य देशों ने करोड़ों रुपये लोगों से टेक्स के रूप में वसूल किये। और यह ऐसा टेक्स था, जिस का रहस्य, सिवाय करंसी के पण्डितों के, साधारण जनता की समझ में भी न आया। भारत सरकार भी इस सम्बन्ध में अपराधी रही है। और सच पूछिये तो वर्तमान वस्तुओं की मंहगी में भी गवर्नमेन्ट की करंसी नीति कई अंशों में उत्तरदायी है। यह कैसे है, इस पर हम आगे कुछ लिखेंगे। परन्तु करंसी का इतिहास लिखने से पहिले कुछ एक प्रारम्भिक बातों पर विचार करना आवश्यक है।

सामान्यतः मनुष्य सोने चांदी के सिक्कों को ही धन समझते हैं। जिसके पास सिक्के अथवा अधिक हों, उसको धनी और जिस पास कम

हों, उसे निर्धन समझा जाता है। इसी प्रकार जिस जाति के पास इन धातुओं की अधिकता हो उसे समृद्धिशाली राष्ट्र गिना जाता है। यह एक ग़लती है। सोना चांदी सम्पत्ति हैं भी और नहीं भी। यह इतिहाससिद्ध घटना है कि स्पेनवालों ने अपने वृहत् साम्राज्य और विस्तृत व्यापार को १७वीं शताब्दी में बहुत हानि पहुंचाई, क्योंकि तत्कालीन शासकों ने यह आज्ञा प्रचारित कि हुई थी कि सोना चान्दी बाहर से तो देश में आजाये परन्तु बाहर न जाने पावे। इस से वस्तुओं की मंहगी देश में इतनी हुई कि निर्यात व्यापार को बहुत भारी धक्का पहुंचा। सोना चान्दी जो सिक्कों के रूप में बर्ते जाते हैं वे मानों मानव शरीर का श्वास हैं। केवल श्वास भीतर लेने और बाहर न निकालने से जिस प्रकार मनुष्य दम घुट कर मर जाता है, ठीक इसी प्रकार सोने चान्दी के आयात से जब, निर्यात न हो सके, समाज के आर्थिक जीवन को हानि पहुंचती है।

वास्तिवक सम्पत्ति घी, अनाज, कपड़ा और अन्य उपयोगी वस्तुएं हैं। सोने चान्दी को धन इस लिये कहते हैं कि उस की सहायता से हम पूर्वलिखित वस्तुएं ख़रीद सकते हैं। यदि एक मनुष्य के पास सोना हो, दूसरे के पास अनाज, और उन में विनिमय की न हो, तो पहिले मनुष्य से बढ़कर कौन दरिद्र हो सकता है।

एक समय ऐसा था जब सोने चान्दी के सिक्कों का चलन समाज में सर्वथा नहीं था। और अब भी मध्य एशिया, अफ़रीका, अमरीका और भारत के भी अनेक ऐसे भाग हैं जहां सिक्कों का चलन नहीं। लोग अपनी बनाई हुई वस्तुओं को दूसरे लोगों की वस्तुओं के साथ विनिमय करते हैं, और इस प्रकार सब का निर्वाह हो जाता है। लोहार को गेहूं की आवश्यकता है और किसान को लोहे के फल की। कुछ गेहूं देकर किसान लोहे के फल खरीद लेता है। इस से दोनों की आवश्यकतायें पूरी हो जाती हैं। जुलाहा अपना बनाया हुआ कपड़ा देकर मोची से जूता ख़रीद लेता है।

यदि हर एक मनुष्य समाज में मोची, लोहार, बढ़ई और किसान स्वयमेव बन सकता, तो कदाचित् ऐसे विनिमय की आवश्यकता भी न पड़ती। परन्तु जनसंख्या के बढ़ने और जीवन की आवश्यकतायें अधिक होजाने से, मनुष्य में सब आवश्यताओं की पूरा करने की सामर्थ्य नहीं रहती। समाज की दूसरी अवस्था भी, जिसको हम हिन्दी में अदलबदल या विनिमय काल कहते हैं;जनसंख्या के बढ़ जाने से स्थिर नहीं रह सकती। इस में भी कुछ एक दोष आजाते हैं, जैसे जुलाहे को जूते की आवश्यकता है और वह मोची के पास कपड़ा लेकर आता है। उधर मोची को कपड़े की नहीं प्रत्युत लोहे के औज़ारों की ज़रूरत है। इस अवस्था में जुलाहे को पहिले लोहार के पास जाना होगा, किन्तु उस को लकड़ी की आवश्यकता है, नकि कपड़े की। तब बेचारे को और दौड़धूप करनी पड़ेगी। लोहार को एक जोड़े जूते की आवश्यकता हो, परन्तु उस का हल यदि दो जोड़े जूतों के मूल्य का है, तो वह न तो हल को ही तोड़ कर आधा हल दे सकता है, और न ही वह दो जोड़ा जूता लेना चाहता है—उस को एक की अवश्यकता है। तीसरी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि विविध पदार्थों के मूल्य की तुलना करना कठिन हो जाता है। एक के पास मकान है,और दूसरे के पास चार घोड़े। यह कहना कठिन है कि उन दोनों वस्तुओं का तुलनात्मक दृष्टि से क्या दाम है।

इन कठिनाईयों से बचने के लिये लोग स्वयमेव ही एक ऐसी वस्तु में क्रयविक्रय आरम्भ कर देते हैं जिस की प्रत्यक्षरूप से उन को आवश्यकता नहीं होती, परन्तु जिस के विनिमय से उन को हर एक वस्तु मिल सकती है। आदिमकाल में भेड़, बकरी, गाय इत्यादि इस प्रकार विनिमय का साधन रही हैं। शीशे के मनके अब भी अफ्रीका की जातियों में सिक्के के रूप में प्रचलित हैं। आस्ट्रेलिया की एक लड़ाकी आदिमजाति में मनुष्य की खोपड़ियां सिक्कों का काम देती हैं; क्योंकि वीरता के चिन्हों का उन के यहां बहुत

मान है। परन्तु ये वस्तुएं भी, जो सिक्कों के रूप में प्रचलित होती हैं, बहुत देर तक जारी नहीं रह सकतीं। जैसे यदि गेहूं सिक्के का काम दे, तो यह असुविधा होती है कि वह अधिक देर तक भाण्डार में नहीं रखी जा सकती। कीड़ा लगजाने की सम्भावना होती है। दूसरे घोड़ा इत्यादि मूल्यवान वस्तुएं यदि खरीदनी हों, तो गेहूं का भारी बोझ इधर उधर उठाकर ले जाना पड़ेगा।

इस प्रकार ज्यों २ लोगों को इन कठिनाईयों का सामना करना पड़ा, स्वयमेव एक वस्तु को छोड़कर दूसरी, और दूसरी को छोड़ कर तीसरी वस्तु विनिमय के काम के लिये चुनी जाने लगी। यहां तक कि आज कल सभ्य संसार में चान्दी और सोने प्रचलित हो गये हैं। इन धातुओं में यह गुण है कि इन को सांचे में डालकर सहज में सिक्का बन सकता है, टूटने और व्यर्थ होने की कोई आशंका नहीं, देर तक सुरक्षित रखी जा सकती हैं, और इनका छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा सिक्का बनाया जा सकता है। ऐसे भी देखने में सुन्दर चमकीले और मनुष्य के लिये लुभायमान प्रतीत होती हैं। सब से बड़ा गुण इन में यह है कि न ये धातुएं लोहे के सामान इतने अधिक परिमाण में पाई जाती हैं कि बहुत ही सस्ती हों। और न ही हीरों और पत्थरों की तरह इतनी न्यून कि अत्यन्त ही मंहगी हों और सिक्के बनाने के लिये प्राप्त भी न हो सकें।

यहां हम एक और सिद्धान्त की ओर भी ध्यान दिलाना चाहते हैं। वह यह है कि दरिद्र देश के लिये सस्ती वस्तु, जैसे चान्दी, और अमीर देश के लिये महगी वस्तु, जैसे सोना, ठीक सिक्के का काम देंगे। उदाहारण के लिये भारत यदि दरिद्र देश हो, अधिकांश की आय कुछ एक रुपये से अधिक न हो, तो पौंड का सिक्का उपयोगी नहीं हो सकता। वेतन ही जब पौंड से कम हो, और पौंड से कम का सिक्का चलता ही न हो, तो उसे कैसे दिया जायेगा। बाज़ार में छोटी २ वस्तुएं लेने में कठिनता होगी। और यदि इस

अवस्था में भी सोने का ही सिक्का प्रचारित करना हो, तो बहुत ही छोटे मूल्यवाला सिक्का बनाना होगा, जिस के खोने का डर न रहे।

इंगलैण्ड इत्यादि धनी देशों में यदि चान्दी के सिक्के प्रचलित किये जायें, तो धनी मनुष्यों को, और साधारण लोगों को जिन की आय पर्याप्त है, बहुत भारी बोझ जेबों में उठाना पड़ेगा। यह बात ठीक इसी सिद्धान्त के सम्बन्ध में है कि नोट, चिक इत्यादि का प्रचार उसी देश में भली भान्ति हो सकता है जहां के लोग धनी हों।

इस के साथ हम एक और बात की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। हम पहिले कह आये हैं कि करंसी को बढ़ा कर गवर्नमेन्ट वस्तुएं मंहगी कर सकती है। जब देश का हर एक आदमी मंहगी वस्तुएं से तंग आकर ठण्डे सांस ले रहा हो और कुटुम्ब का पालनपोषण भी उस के लिये दुष्कर हो गया हो, तो वह व्यर्थ ही सट्टेबाज़ या व्यापारी की निन्दा करता है। वह यह नहीं जानता कि गवर्नमेंट ने जो काग़ज़ी सिक्कों की भरमार देश में गत कुछ वर्षों में की है बहुत अंशो में इस मंहगी का कारण है। नोटों की संख्या में कमी करने से भाव गिर सकते हैं। इस सिद्धान्त को अर्थशास्त्र में इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि मूल्य का घटना बढ़ना सिक्कों के परिमाण पर अवलम्बित है। इसकी न्यूनाधिकता से मूल्य कम व अधिक हो सकते हैं। यह बात एक दृष्टान्त से समझ में आसकती है। उदाहरण के लिये एक गांव के निवासियों के पास केवल एक सौ रुपये नकद हैं, जो सारे के सारे उन्हों ने चीज़ें खरीदने में लगाने हैं, ज़मीन में नहीं गाड़ने। और मान लीजिये उस रुपये से केवल दस सौदे होते हैं। दस बारह रुपये का गेहूं खरीदना है, बीस पच्चीस की बकरियां, बीसइक्कीस का कपड़ा, एक दो का नमक इत्यादि। तो यह स्पष्ट है कि प्रति सौदे का औसत दाम $\frac{\text{१०० रुपये}}{\text{१० सौदे}}$=दस रुपये हुआ। और यदि मान लिया जाये कि उसे एक सौ रुपये की स्थान पर दो सौ रुपये खर्च करने हैं, और वस्तु जो खरीदनी हैं

वे उतनी ही हैं, तो प्रत्येक वस्तु का औसत दाम $\frac{\text{२०० रुपये}}{\text{१० सौदे}}$ =२० रुपये हुआ। यदि देश भर का कुल रुपया र मान लिया जाये और वर्ष भर में जितने सौदे होते हो उन को स, तो प्रत्येक सौदे का औसत दाम $\frac{र}{स}$=ख हुआ (ख यहां रुपये की ख़रीदने की शक्ति है)। यदि स में कोई अन्तर न आये, और र ही घटे बढ़े, तो मूल्य अर्थात् ख पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा (यदि दूसरी चीज़ें बराबर रहें)। इस बात को एक और दृष्टान्त से भी सिद्ध किया जा सकता है। मान लीजिये एक दिन प्रातः उठते ही लोगों की जेबों में और बेंको और खज़ानों में जो रुपये हैं वे वज़न में दुगने हो जायें, और लोगों को इस बात का ज्ञान न हो। वे उसी प्रकार क्रय-विक्रय करते और अपने वेतन लेते रहें। अर्थात् यदि उन के स्वभाव में कोई परिवर्तन न आये, तो स्पष्ट है कि मूल्य दुगने हो जायेंगे। एक रुपया देते या लेते समय एक मनुष्य दो रुपये ले या दे रहा होगा। यह ठीक है एकदम सिक्कों की संख्या दुगनी नहीं होती प्रत्युत गवर्नमेन्टें उसे धीरे २ बढ़ाती हैं। परन्तु उस से कोई अन्तर नहीं आता। दाम भी धीरे २ बढ़ते हैं, कुछ वस्तुओं का कम और कुछ का अधिक। परन्तु औसत दाम में उतना ही अन्तर आयेगा जितने प्रमाण से रुपये इत्यादि के परिमाण में। यह अर्थशास्त्र का एक सर्वस्वीकृत सिद्धान्त है।

इस लिये जब भारत सरकार ने युद्धकाल में नोटों की देश में भरमार की, तो उस का निश्चित परिणाम यह निकला कि दाम बढ़ गये। हम ने इस सिद्धान्त की व्याख्या में बहुत स्थूल उदाहरण दिया है, और कई एक बातें स्वीकार करली हैं। इस सिद्धान्त को समझाने के लिये एक लम्बी व्याख्या की आवश्यकता है; जो इस स्थल पर नहीं की जा सकती। परन्तु अर्थशास्त्रवेत्ता जानते हैं कि वर्तमान करंसी के प्रबन्ध की पेचीदगियों के होते हुए भी यह सिद्धान्त कितना ठीक है। भारत में वस्तुओं की मंहगी के कारणों

पर विचार करते हुए यह सिद्धान्त हमें बहुत सहायता देगा।

कंरसी के आरम्भ और सिद्धान्तों पर विचार करने के पश्चात हम भारतीय कंरसी का संक्षिप्त वृत्तान्त देना चाहते हैं। पुराने सिक्कों से, जो देश के कई स्थानों में मिले हैं, और विदेशी यात्रियों की पुस्तकों से पता लगता है कि आर्यवर्त में सिक्के का रिवाज प्राचीन काल से चला आता है। सोना, चान्दी, ताम्बा और कौड़ियां सिक्के का काम देती हैं। परन्तु हिन्दुओं के समय से यह विशेषता रही है कि बड़ा सिक्का सर्वदा सोने का रहा है। मद्रास प्रान्त में, जहां मुसलमानों का प्रभाव बहुत कम हुआ है, अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक सोने का हुन, जिसे अंग्रेज़ पैगोडा कहते हैं, बहुत परिमाण में प्रचलित रहा। यहां तक कि ईस्ट इण्डिया कम्पनि ने उसे सिक्का कहने से इन्कार कर दिया। मुसलमानों के समय में भी सोने की मोहरें प्रचलित रहीं। परन्तु चान्दी का सिक्के के तौर पर उपयोग बहुत अधिक था। महम्मद तुग़लक करंसी सम्बन्धी विषयों में विशेषज्ञ हुआ है। उस ने ताम्बे के सिक्के जारी करके, जिन का बाज़ारी मूल्य उन के वास्तविक मूल्य से कई गुणा कम था, आजकल के कागजी रुपये के मौलिक सिद्धान्त की नींव रखी। आजकल के चान्दी के रुपये, जिन्हें पहिले टंका [illegible] थे, ई० १२३३ में सुलतान अलतमश ने प्रचलित किये थे, और धीरे २ वे सारे उत्तर भारत में फैल गये। शेरशाह सूरि के शासनकाल में टंके का वज़न १ तोला स्थिर हुआ, और उस का नाम भी रुपया पड़ा। परन्तु उस के पश्चात इतने परिवर्तन हुए कि जब १७६६ में ईस्ट इण्डिया कम्पनि ने कंरसी में कुछ सुधार करना चाहा, तो उस समय अवस्था यह थी कि भारत के विविध भागों में १३८ प्रकार की सोने की मोहरें प्रचलित थीं और ५५६ प्रकार के रुपये। मद्रास की स्वर्णमुद्रा भी एक प्रकार की न थी प्रत्युत ५१ क़िस्म की। इन के अतिरिक्त २१४ विदेशी सिक्के भी प्रचलित थे। वास्तव में बात यह थी कि हर एक बादशाह, शाहज़ादा और राजा अपना सिक्का चला देता था।

इन विविध सिक्कों का परिणाम यह हुआ कि व्यापार को भारी हानि पहुंची और धोखे का बाज़ार गर्म होगया। इस असुविधा को दूर करने के विचार से ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से १७७८ में शाहआलम दूसरे के उन्नीसवें वर्ष का प्रचलित चान्दी का रुपया जारी किया गया, और तीन और प्रकार के रुपये भी प्रचलित रहे। १८१८ में मद्रास से स्वर्णमुद्रा हटा दी गई, जिस पर कुछ आन्दोलन भी हुआ। और कुछ अन्दोलन का होना स्वाभाविक ही थी, क्योंकि स्वर्णमुद्रा को कम्पनी ने सुधार की इच्छा से प्रेरित होकर नहीं हटाया। अन्त में १८३५ में बंगाल वाला रुपया (वज़न एक तोला, ११/१२ भाग चान्दी और १/१२ भाग खोट) अखिल भारत के लिये कानूनी सिक्के के तौर पर प्रचारित किया गया। उस समय से लेकर अबतक रुपये के वजन में, या खोट और चान्दी के अनुपात में, कोई भेद नहीं डाला गया। सन १८३५ से १८७३ तक साधारण परिवर्तन होते रहे। उदाहरण के लिये १८४० में लोगों के आन्दोलन के परिणामस्वरूप गवर्नमेन्ट ने स्वर्ण मुद्रायें भी खजाने में लेनी आरम्भ करदीं, और रुपये और मोहर की विनिमय निष्पत्ति १५ और १ स्थिर की। १८४४ के पश्चात आस्ट्रेलिया में सोने की खाने निकली और यह बहुत सस्ता हो गया। इस लिये पहिली आज्ञा लौटानी पड़ी। और १८६४ में एक घोषणा के अनुसार मोहर और रुपये की विनिमय निष्पत्ति १ और १० हो गई। चार वर्ष के पश्चात यह निष्पत्ति भी बदलनी पड़ी। भारतीय करंसी का मनोरंजक इतिहास वास्तव में १८७३ से आरम्भ होता है। १८७३ से चान्दी का भाव गिरने लगा। खानों से चान्दी अधिक परिमाण में निकाली जाने लगी, और जर्मनी ने भी उस वर्ष अपना चान्दी का सिक्का कानूनी सिक्का न रहने दिया। इस से भारत में असुविधा होने लगी। हम पहले कह आये हैं कि १८३५ में चान्दी के रुपये को भारत का आदर्श सिक्का ठहराया गया था और उसी में क्रयविक्रय और दामों का निर्धारण होता रहा। चान्दी के सस्ता



होजाने से रुपये के दाम में भी बहुत अन्तर आने लगा। और चीजों के मूल्य में बहुत उथल पुथल होनी आरम्भ होगई।

भारत का अधिकांश व्यापार इंगलैण्ड और अन्य युरोपीयन देशों के साथ था, और अब भी है। योरुप के प्रायः सब देशों में सोने का सिक्का प्रचलित था, और है। इस लिये योरुप का जो माल आता था वह तो पौण्ड शिलिंग में लिखा जाता था, और भारतीय व्यापारी को अपने हिसाब किताब रुपयों में रखना पड़ता था। विनिमय का काम विनिमय बैंक और साहूकार करते थे। अब जब चान्दी सस्ती होनी आरम्भ हो गई और उसका भाव प्रतिदिन गिरने लगा, विलायत के सोने और भारत के चान्दी के सिक्के की निष्पत्ति स्थिर नहीं रह सकती थी। और माल मंगवाते समय या देश से बाहर भेजते समय यह निश्चय नहीं होसकता था कि कितने रुपये देने या लेने पड़ेंगे। इस से आयात और निर्यात व्यापार में अस्थिरता उत्पन्न होगई।

दृष्टान्त के लिये १८७३ में विनिमय निष्पत्ति गिरती २ दो शिलिङ्ग=एक रुपये होगई। इस परिवर्तन से भारत सरकार को बहुत नुक्सान हुआ। उसे प्रति वर्ष करोड़ों रुपये इङ्गलैण्ड भारत-मंत्री के खर्च के लिये भेजने पड़ते हैं। भारत मंत्री हमारी सरकार के लिये इंगलैण्ड की मंडी में करोड़ों रुपये का जो कर्ज़ा लेता है उसका हमें सूद देना पड़ता है। गोरे अफसरों की पेन्शनों और अन्य कई प्रकार के 'घरेलु' खर्चों के लिये भी हमें इङ्गलैण्ड रुपया भेजना पड़ता है। इस कारण जब रुपये की कीमत गिरने लगी, तब प्रत्येक पौंड के पीछे भारत सरकार को अधिक रुपये इङ्गलैण्ड भेजने पड़ते थे। और उसे बहुत हानि उठानी पड़ती थी। अनुमान लगाया है कि विनिमय निष्पत्ति के एक पेन्स या एक आने के गिरने से सरकार के बजट में एक करोड़ रुपये का घाटा होता था।

जहां विनिमय निष्पत्ति के गिरने से भारत सरकार को हानि पहुंच रही थी, वहां भारत से बाहर माल भेजने वालों को लाभ ही

लाभ हो रहा था। कच्चे और पक्के माल के उत्पादकों और व्या-पारियों को निर्यात व्यापार में करोड़ों रुपये का लाभ होने लगा, क्योंकि चान्दी के सस्ता होने से उन्हें अधिक रुपये मिल सकते थे। गवर्नमेन्ट ने घाटे से बचने के लिये पहिले अन्तराष्ट्रीय समझौता करने का प्रयत्न किया, जिस से चान्दी का दाम गिरने से रुक जाये। परन्तु जब सब प्रयत्न व्यर्थ हुए, तब गवर्नमेन्ट ने कृत्रिम तरीकों से ही विनिमय निष्पत्ति स्थिर करने की ठानी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने लार्ड हरशल की अध्यक्षता में १८९३ में एक करंसी कमेटी बिठाई। उक्त कमेटी की सिफारिश पर जून १८९३ में सर्व साधारण के लिये टकसाल बन्द कर दिया गया, और चान्दी से रुपये बनाने की एक प्रकार से मनाही होगई। खुली तौर पर चान्दी से रुपये बनाने की स्वतंत्रता के छिन जाने से उनकी तादाद बढ़नी बन्द होगई। इसके अतिरिक्त गवर्नमेन्ट ने स्वयम् भी कुछ वर्ष तक नये रुपये न बनाये, ताकि संख्या कम होने से उन की कीमत बढ़ जाये। इतना करने पर भी जनवरी १८९५ तक विनिमय निष्पत्ति गिरती ही गई, और एक पौंड १९$\frac{3}{4}$ रुपये का बिकने लगा। परन्तु उसके पश्चात रुपये की कीमत बढ़नी आरम्भ हुई। यहां तक कि १८९९ में विनिमय निष्पत्ति १६ पेन्स अर्थात् १५ रुपये प्रति पौंड तक पहुंच गई। यही निष्पत्ति थी जिसका प्रस्ताव हरशल कमेटी ने किया था। यह पहिली बार थी जब गवर्नमेन्ट ने कृत्रिम साधनों द्वारा विनिमय निष्पत्ति स्थिर करने का प्रयत्न किया था। गवर्नमेन्ट के इस हस्तक्षेप की व्यापारीवर्ग में कड़ी आलोचना की गई। भारत के निर्यात व्यापार को उसकी नीति से विशेष हानि पहुंची।

गवर्नमेन्ट की करंसी नीति से हमें एक और नुकसान पहुंचा। रुपये में $\frac{11}{12}$ तोला चान्दी है। चान्दी की बाजारी कीमत के हिसाब से उस समय असल रुपया केवल नौ दस पेन्स के बराबर था। यदि लोग १६ पेन्स उसी रुपये के लिये देवें

को तय्यार थे, उसका कारण केवल यह था कि व्यवहार के लिये सरकार की ओर से रुपया ही कानूनी सिक्का था। पौंड उस समय प्रचलित न थे। और रुपया बनाने और चलाने वाली केवल सरकार थी। चान्दी से टकसाल पर जाकर रुपये बनवाने की स्वतंत्रता सरकार ने जून १८९३ में छीन ली थी। जाली रुपये बनाना जुर्म था। इस लिये लाचार होकर रुपये की मांग बढ़ने लगी। और जब कोई साधन भी रुपये बनाने या मिलने का न सूझा, तो लोग सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य पर ही उन्हें लेने के लिये विवश होगये। उस समय से चान्दी का रुपया नक़ली सिक्का बन गया। इस से लाभ यह हुआ है कि अब चान्दी कितनी ही सस्ती क्यों न हो, रुपये का मूल्य वही रहेगा। सस्ती चान्दी का परिणाम यह हुआ कि जहां पहिले गवर्नमेन्ट को प्रति रुपया सात आने लाभ होता था, चान्दी सस्ते होने से वह कई बार आठ नौ आने भी होने लगा।

१८९८ में फौलर कमेटी नियुक्त की गई, ताकि भारतीय करंसी में सुधार करने के लिये वह और सिफारशें करे। उस कमेटी ने पौंड और आधे पौंड को क़ानूनी सिक्का बनाने का परामर्श दिया। और सिफ़ारिश की कि अब जब उसने भारत का आदर्श सिक्का चान्दी के बदले सोना बनाने की सलाह दी है, सोने के सिक्के को ही अधिक परिमाण में प्रचालित किया जाये। जैसा कि हम पहिले कह आये हैं, भारत सरकार को एक रुपया बनाने में नौ आने खर्च आते थे। इस प्रकार हर एक रुपये पर उसे सात आने के लगभग लाभ होता था। फौलर कमेटी ने सिफ़ारिश की कि इस बचत को एक भिन्न रिज़र्व में रखा जाये, और जब कभी विनिमय-निष्पत्ति गिरने लगे, अर्थात् रुपये का मूल्य १६ पेन्स से गिरकर १४ या १५ पेन्स तक पहुंचने लगे, तो सरकार निःसंकोच प्रत्येक रुपये के पीछे १६ पेन्स देने को तय्यार हो। और यह रिज़र्व विनिमय-निष्पत्ति में क़ानूनी निष्पत्ति की अपेक्षा जो कमी है उस को पूर्ण करने

में उपयुक्त किया जाये। कमेटी की यह भी सिफ़ारिश थी कि रिज़र्व को सोने में रखा जाये, और रुपयों के बदले पौंड निश्चित विनिमय निष्पत्ति पर दिये जायें। ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि विनिमय निष्पत्ति गिरने से रुक जायेगी; क्योंकि जब गवर्नमेन्ट से एक रुपये के सोलह पेन्स मिलते हों, तो बाजार में सोलह से कम कोई भी लेने को तय्यार न होगा। कमेटी ने यह भी सिफ़ारिश की कि सोने का सिक्का भारत में ही बनाने के लिये बम्बई में टकसाल खोली जाये।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय करंसी की यह अवस्था थी। १६०० से अगस्त १६१४ तक, अर्थात् युद्ध के आरम्भ तक, के इतिहास पर संक्षेप से लिखा जा सकता है। युद्धकाल में जिन परिवर्तनों और कठिनाईयों का मुकाबला करंसी सम्बन्धी बातों में करना पड़ा उनका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

इन चौदह वर्षों में केवल एक बार जब १६०७-८ में न्यूयार्क में एक दो बैंक दिवालिये होगये और उनका प्रभाव लन्दन पर पड़ता हुआ भारत पर भी पड़ा, और जब अकाल के कारण निर्यात व्यापार बहुत कम होगया, भारत की विनिमय निष्पत्ति निश्चित सीमा से गिर गई। परन्तु इस का कारण अधिकतर सरकारी कर्मचारियों की अदूरदर्शिता था। ज्यों ही रुपयों के बदले सरकार ने पौण्ड देने आरम्भ किये, त्यों ही विनिमय निष्पत्ति अपनी वास्तविक स्थिति पर आ गई। परन्तु सब से महत्वपूर्ण बात यह है कि, अज्ञानता से या जानबूझ कर, भारतसरकार ने फौलर कमेटी की सिफारिश को कार्यरूप में परिणत न किया। टकसाल खोलने की तय्यारी विलायती खज़ाने के कर्मचारियों के विरोध के कारण स्थगित करदी गई। सोने का सिक्का देश में प्रचलित न होने दिया गया, यद्यपि इस पर सरकारी कथन यह है कि लोगों ने पौंड लेने की कोई उत्कट इच्छा प्रगट नहीं की। गवर्नमेंट ने लोगों को पौंड दिये, परन्तु लोगों में रुपयों के लिये इतनी प्रबल इच्छा

थी कि वे ख़ज़ाने में वापिस आगये और उन पर कुछ समय के लिये सरकार को घाटा उठाना पड़ा।

गवर्नमेन्ट की यह व्याख्या कि लोगों में प्रबल इच्छा न होने के कारण पौंड ख़ज़ाने में वापिस आगये हमें ठीक नहीं जचती। ख़ज़ाने में उन का लौट आना सिद्ध करता है कि सोना देश में वास्तव में प्रचलित होने लगा था। क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो पौंड फिरफिराकर ख़ज़ाने में लौट कर न आते परन्तु लोग उन्हें गाड़ देते। इस सम्बन्ध में यह बात स्पष्ट है कि हर एक मनुष्य या हर एक सौदे के लिये पौंड उपयोगी नहीं हो सकते। कम वेतनवालों को रुपये ही की आवश्यकता रहेगी। इस के अतिरिक्त रुपये वर्तने का इतना पुराना स्वभाव एकदम दूर नहीं हो सकता। इस लिये जब पौंड लोगों को दिये गये, और रुपयों की आमद कम होजाने से उन की करंसी सम्बन्धी मांग पूरी न हो सकी, तो परिणाम पहिले ही से निश्चित था कि सरकार का मन मलीन है। भारतसरकार का नित्य का स्वभाव है कि जब वह किसी पालिसी को चलाना चाहती है, तो कमेटियां या राजकीय कमीशन कुछ भी परामर्श दें, करती वही है जो उस के मन भाती है।

सोने के सिक्के का प्रथा न चलाने या न होने के कारण भारत सरकार की नीति का यह परिणाम निकला कि फौलर कमेटी और अखिलभारत समझता कुछ और रहा, और नतीजा कुछ और ही निकला। अर्थात् घर से तो चले थे सोने को आदर्श सिक्का बनाने के लिये और परिणाम निकला गोल्ड एक्सचेंज स्टैण्डर्ड। गोल्ड एक्सचेंज स्टैण्डर्ड का तात्पर्य यह है कि देश की आन्तरिक आवश्यकताओं और व्यापार के लिये कानूनी सिक्का चान्दी का रुपया हो और विदेशी व्यापारियों को रुपये भेजने के लिये सोने का सिक्का। तदनुसार आन्तरिक व्यापार के लिये सरकार पौंड देने की ज़िम्मेवार नहीं। परन्तु यदि रुपये बाहर भेजने हों, तो उन के बदले निश्चित विनिमय निष्पत्ति पर पौंड का प्रबन्ध करना उस का

कर्त्तव्य है। दूसरे शब्दों में दोनों पद्धतियों में जो अन्तर है उस का हम इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं। प्रथम लिखी पद्धति में मूल्य का परिमाण सोना है और कानूनी सिक्का भी उसी का है, जिस के वास्तविक मूल्य और बाज़ारी मूल्य में कोई अन्तर नहीं। दूसरी पद्धति में मूल्य का परिमाण तो सोना ही है परन्तु कानूनी सिक्का चान्दी का नकली रुपया है। इस का वास्तविक मूल्य केवल नौ आने है परन्तु इस का विनियम मूल्य सरकार द्वारा सोलह आने स्थिर किया गया है।

एक और बात जिस पर इन चौदह वर्षों में देश भर में बड़ा भारी आन्दोलन हुआ, और अब भी हो रहा है, वह यह है कि गवर्नमेन्ट ने, फौलर कमेटी की सिफारिश पर चलते हुए, प्रत्येक रुपये के बनाने में जो उसे सात आने लाभ होता था उसको एक भिन्न गोल्ड स्टैण्डर्ड रिज़र्व में तो रखना आरम्भ कर दिया परन्तु यह सब का सब रिज़र्व इङ्गलैण्ड में रखा जाने लगा। रिज़र्व संग्रह तो इस उद्देश्य से किया गया था की कि जब विनिमय निष्पत्ति गिर जाये, तो सरकार रुपयों के बदले उस से पौंड निकालकर दे, ताकि ऐसा करने से निर्ख सीमाबद्ध रहे। यह उद्देश्य रिज़र्व को इङ्गलैण्ड की अपेक्षा भारत में रखने से अधिक अच्छी तरह पूरा हो सकता था।

दूसरी ग़लती, जो सरकार ने की, और जिस पर आक्षेप किया जाता है, यह थी कि रिज़र्व में चान्दी भी रखनी आरम्भ कर दी। इस चान्दी को रिज़र्व के तौर पर भारत में ही रखा जाने लगा। इस से लोगों के मन में सन्देह होना स्वाभाविक था कि कहीं लन्दन के प्रतिष्ठित व्यापारियों को लाभ पहुंचाने के लिये यह नया रिज़र्व न खोल दिया गया हो, क्योंकि इस की आवश्कता ही न थी। सम्भव है यह बात ग़लत हो। युद्धकाल की शिक्षा से तो हम कदाचित् प्रसन्न होते कि यह शाखा रहने देनी चाहिये। परन्तु उस समय कम से कम लोगों के पास सन्देह करने के काफ़ी कारण थे।

तीसरी बात जो सरकार ने की वह रिज़र्व का दुरुपयोग था। रिज़र्व का लाभ और वास्तव में उसकी स्थापना का उद्देश्य ही यही था कि उसमें खालिस सोना या पौण्ड रखे जायें, ताकि अवसर पड़ने पर वे सरकार की पहुंच में हों। परन्तु भारतमंत्री ने इस रिज़र्व से अंगरेज़ व्यापारियों और साहुकारों को ऋण देने आरम्भ कर दिये, और व्याज का दर भी वह बाज़ारी दर से कम लेने लगा। यह ऋण भारतमंत्री एक दलाल की मारफत देता है, जिसको बड़ी भारी कमीशन मिलती है। इस पर भी संतुष्ट न होकर उसने रिज़र्व का सोना इङ्गलैण्ड और उपनिवेशों के तमस्सुक ख़रीदने में खर्च करना आरम्भ कर दिया। इस बात पर देश के अर्थशास्त्रवेताओं ने जो हलचल मचाई वह भली भान्ति समझ में आसकती है। रिज़र्व रखने का असली उद्देश्य लोप होजाता है। क्योंकि यदि अकस्मात किसी व्यापारिक या बैंक सम्बन्धी संकट के कारण लोग, बाहर भेजने के लिये, रुपये देकर गवर्नमेन्ट से सोना मांगना आरम्भ करदें तो भारतमंत्री को रिज़र्व से दिया हुआ ऋण एकदम लौटाना होगा। सम्भव है वह मिलजाये या न मिले और बैंक दिवाला निकाल दे और रुपया ही व्यर्थ जाये। यह भी सम्भव है कि तमस्सुक बेचने पड़ें या गिरवी रखने पड़ें। परन्तु उन्हें जल्दी बेचने का जो परिणाम निकलेगा उसका पाठक स्वयम अनुमान कर सकते हैं।

१९१३ में एक शाही कमीशन करंसी सम्बन्धी बातों पर रिपोर्ट करने के लिये नियुक्त की गई। लोगों को आशा थी कि उनकी आलोचना का कदाचित् कुछ परिणाम निकले। परन्तु रिपोर्ट ने, जो युद्ध के पहिले प्रकाशित हुई थी, सब आशाओं पर पानी फेर दिया। बहुमत ने गवर्नमेन्ट के कारनामों को युक्ती-संगत ठहरा कर बता दिया कि भारत सरकार और भारत मंत्री निर्दोषी हैं। दृष्टान्त के लिये उनकी सम्मति में सोने के सिक्के की कोई आवश्यकता नहीं, रुपयों और नोटों पर ही संतुष्ट रहना

चाहिये। सोने का उपयोग, उनके मतानुसार, व्यर्थ फिज़ल-खर्ची है। सोने के सिक्के के लिये टकसाल की भी कोई आवश्यकता नहीं, यद्यपि वे उसकी स्थापना पर कोई आपत्ति न करेंगे। रिज़र्व लन्दन में ही रखना चाहिये, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लंदन संसार भर का केन्द्र है। और सामान्यतः हर एक आदमी, चाहे उसने किसी भी देश में रुपया चुकाना हो, लंदन की मारफत ही चुकाता है। इस लिये रिज़र्व की आवश्यकता लंदन में होगी। और भी कई देश अपने रिज़र्व वहीं रखते हैं। रिज़र्व का कुछ भाग ऋण देने के लिये उपयोग में लाना उचित और लाभदायक काम है, क्योंकि ऐसा करने से व्याज मिलता है। परन्तु खालस सोना भी पर्याप्त परिमाण में रखना चाहिये।

कमीशन ने यह भी रिपोर्ट की कि इस रिज़र्व को सीमाबद्ध नहीं किया जासकता। और भारत सरकार को चाहिये कि उस को बढ़ाती चली जाये। चान्दी रिज़र्व में नहीं रखनी चाहिये इत्यादि २।

युद्ध के आरम्भ से रिपोर्ट खटाई में पड़गई। युद्ध ने ऐसी नई करंसी सम्बन्धी कठिनाईयां उत्पन्न करदी कि दो वर्ष के भीतर ही चेम्बरलैन रिपोर्ट की सिफ़ारशें व्यर्थ होगई। युद्ध के पश्चात विनिमय निष्पति, उस के बढ़ने के कारण और युद्ध के पश्चात से आजतक का इतिहास हम अगले अध्याय में लिखेंगे। यहां हम यही बता देना चाहते हैं कि युद्धकाल में और उस के पश्चात रिज़र्व में बहुत परिवर्तन आये हैं। ३१ मार्च १६१३ को गोल्ड स्टेण्डर्ड रिज़र्व की बनावट इस प्रकार थी।

तमस्सुक.................................२४ करोड़ रुपये के लगभग
अंगरेज व्यापारियों को ऋण...........१½ „ „ „
बैंक आफ़ इंगलैण्ड में रखा हुआ सोना...२½ „ „ „
भारत में चान्दी ६ „ „ „

युद्धकाल में रिज़र्व का लगभग सारा सोना अंगरेजी सरकार

के तमस्सुक खरीदने में भारत मंत्री ने लगा दिया था। नौ नवम्बर १९१९ को यह रिज़र्व ३७४३८३१७ पौंड था, जिस में से नकद केवल २७०९३ पौंड था।

विनिमय

भारत में रुपया हम एक स्थान से दूसरे स्थान पर मनी-आर्डर द्वारा भेज सकते हैं। लाहौर से बम्बई यदि हमें एक सौ रुपये का मनीआर्डर भेजना हो, तो चाहे हम उसे अब भेजें या दिसम्बर में हमें एक रुपया ही कमीशन देनी होगी। परन्तु जिन लोगों ने कभी विलायत रुपया भेजा हो, उन्हें विदित होगा कि कभी उन्हें एक सौ रुपये के लिये बारह पौंएड मनीआर्डर कराने पड़ते हैं और कभी आठ नौ पौंड ही। इस का क्या कारण है ? लाहौर और बम्बई का सम्बन्ध लाहौर और लन्दन के सम्बन्ध से भिन्न है। लाहौर में भारतीय टक्साल का रुपया चलता है और बम्बई में भी वहीं रुपया प्रचलित है। इसलिये लाहौर से बम्बई रुपया भेजने में उस के मूल्य में कोई अन्तर नहीं आता। अब लन्दन और लाहौर के सम्बन्ध को लीजिये। यदि लाहौर में कोई व्यापारी लन्दन से एक हज़ार पौंएड का माल मंगाता है, तो उस के लिये आवश्यक है कि भारत के रुपयों को विलायत के पौंएडों में तबदील करके अपने लन्दन के ऋण को चुकाये। वह यहां से रुपये मनीआर्डर करके नहीं भेज सकता प्रत्युत रुपयों के पहिले पौंएड ख़रीदता है। जैसे बाज़ार में वस्तुओं के दाम में अन्तर आता रहता है, वैसे ही पौंड का निर्ख़ भी कम व अधिक होता रहता है। इस लिये उसे कभी एक सौ रुपये के बारह पौंड मिलते हैं और कभी आठ नौ पौंड ही। इस अन्तर को तभी दूर किया जा सकता है यदि संसार भर के राष्ट्रों में एक ही सिक्का प्रचलित हो जाये। ऐसा होने से मनीआर्डर की कमीशन के अतिरिक्त, या उस ख़र्च के जो अन्य साधनों द्वारा रुपये भेजने में होता है, और कोई अड़चन सामने नहीं आयगी। परन्तु सिक्कों की विभिन्नता के कारण दो देशों में विनिमय निष्पत्ति स्थिर करने में कुछ कठिनता होती है।

दूसरे देशों के साथ विनिमय निष्पत्ति किस प्रकार निर्धारित होती है?

१—पहिली बात तो यह है कि सोना चान्दी मूल्यवान धातुएं है। ये आभूषणों आदि के लिये भी काम में आती हैं। इस लिये उन के दाम बाज़ार में मूल्यवान धातुओं के रूप में भी हैं। यदि किसी देश के सिक्के को दूसरे देश के सिक्के में बदलना हो, तो मूल्य का निर्णय इस बात पर निर्भर है कि एक सिक्के में दूसरे सिक्के की अपेक्षा धातु कितने गुणा है। यदि पौंड में एक तोले के लगभग खालिस सोना है और किसी दूसरे देश के सिक्के में आठ मासे, तो दो पौंड दूसरे देश के तीन सिक्कों के बराबर होंगे। परन्तु इसी से विनिमय निष्पत्ति स्थिर नहीं होजाती।

२-यदि बम्बई से रुपये बाहर भेजने हों, तो उनके भेजने में कुछ ख़र्च होगा। इस लिये आवश्यक है कि उस खर्च की भी गणना की जाये, यद्यपि वह बहुत थोड़ा होता है। युद्ध के पहिले की बात लीजिये। उस समय रुपये को विलायत भेजने का खर्च 1/8 पेन्स होता था। एक रुपया विलायत जाकर १६ पेन्स के स्थान पर १५ 7/8 पेन्स के बराबर हो जाता था। इस प्रकार विलायत से १६ पेन्स भेजने का खर्च 1/8 पेन्स होता था, जिसका यह अभिप्राय था कि १६ 1/8 पेन्स भेजने पर भारत में लोगों को एक रुपया मिलता था। रुपये का मूल्य उन दिनों में कुछ मर्यादा के भीतर बदलता रहता था। परन्तु साधारणतयः रुपये का दाम १५ 6/8 पेन्स से कम और १६ 1/8 से अधिक नहीं होता था। रुपया के मूल्य में अब भी इसी मर्यादा के भीतर परिवर्तन होता है, यदि और कोई विशेष घटना न हो।

अब सिक्कों का न्यूनातिन्यून और अधिक से अधिक मूल्य स्थिर होगया और नीति भी बन गई। प्रश्न केवल इतना रह गया है कि समय २ पर उनके दामों में अन्तर कैसे आता है। इस बात का निर्णय इस से होगा कि बाजार में सिक्का किस परिमाण

में पाया जाता है और उसकी मांग कितनी है। आओ देखें, सिक्कों की मांग और उपलब्धि से क्या अभिप्राय है।

उदाहरणार्थ लाहौर के किसी व्यापारी ने एक हज़ार पौण्ड का माल विलायत से मंगाया है। उसको लाहौर में एक हज़ार पौण्ड की मांग है, ताकि वह विलायत के व्यापारी का ऋण चुका सके। दूसरी ओर समझिये कि रेली ब्रदर्स ने किसी और लाहौरी व्यापारी से एक हज़ार पौण्ड का गेहूं ख़रीदा है, इस लिये उसे लाहौर के व्यापारी को एक हज़ार पौण्ड भेजने हैं। अब यदि रेली ब्रदर्स विलायत से गेहूं के व्यापारी को एक हज़ार पौण्ड भेजे और पहिला व्यापारी उन्हें विलायत भेजे तो दोनों को जहाज़ का किराया व्यर्थ देना पड़ेगा। सरल उपाय तो यह है कि गेहूं का व्यापारी अपने पौण्ड के दावे को लाहौर के विलायती माल के व्यापारी के पास भेज दे और अपने रुपये वसूल करले। उधर विलायती माल का व्यापारी गेहूं के दावे को इंगलैण्ड के व्यापारी के पास भेज सकता है, जिस से उस ने माल मंगाया था। दावे का काग़ज़ पहुंचने पर वहां का व्यापारी उसे दिखाकर रेली ब्रदर्स से अपने पौण्ड वसूल कर सकता है। इस प्रकार दोनों देशों के व्यापारियों को रुपये भेजने और मंगाने का ख़र्च बच जायेगा। व्यापार में इस ख़र्च को बचाने का प्रबन्ध किया गया है। विलायती माल के व्यापारी को विलायत पौण्ड भेजने की ज़रूरत नहीं। वह इण्डियन नैशनल बैंक से १००० (एकहज़ार) पौण्ड की हुंडी ख़रीद कर उसे विलायत के लहनिया के पास भेज देगा। और इङ्गलैण्ड का व्यापारी उस बैंक की लन्दन की शाखा से हुंडी देकर रुपया वसूल कर लेगा। उधर रेली ब्रदर्स भी इण्डियन नैशनल बैंक की लन्दन की शाखा से एक हज़ार पौण्ड के रुपये ख़रीद कर उन की हुंडी भारत भेज देगा। लाहौर का व्यापारी उस के द्वारा बैंक से अपने रुपये वसूल कर लेगा, और दोनों ओर से हिसाब साफ़ हो जायेगा। इस

प्रकार बैंक भारतीय सौदों के लिये भारत में और विलायती सौदों के लिये विलायत में ही रुपया दे देगा।

यह तो एक बड़ा सरल दृष्टान्त दिया गया है। व्यापार में ये बातें इतनी सरल नहीं होतीं। यह कभी ही होता है कि इङ्गलैण्ड वालों ने उतना ही माल मंगाया हो जितना भारतवासियों ने। परन्तु साधारण तौर पर सौदे ऐसे ही होते हैं। दोनों देशों की दैनिक मांगों में जो अन्तर होता है वह दोनों देशों की पारस्परिक विनिमय निष्पत्ति को पूर्वनिर्धारित सीमा में घटाता बढ़ाता रहता है। उदाहरण के लिये यदि किसी दिन विलायत पर केवल ६० हज़ार पौंड के तमस्सुक मिलते हों, तो सब व्यापारी परस्पर इस बात के लिये मुक़ाबला करेंगे कि कौन व्यापारी पहिले अपने रुपये को विलायत भेज सकता है। इस मुक़ाबले का परिणाम यह होगा कि पौण्ड का मूल्य बढ़ जायेगा। इसी प्रकार यदि विलायत के तमस्सुक एक लाख दस हज़ार पौंड के हों तो पौंड का मूल्य गिर जायेगा।

विदेशी विनिमय-निष्पत्ति के निर्धारण में गवर्नमेन्ट का हाथ।

सामान्यतः गवर्नमेंट विनिमय सम्बन्धी बातों में बहुत कम दख़ल देती है। परन्तु भारत एक विचित्र देश है जहां गवर्नमेंट का प्रभावक्षेत्र बहुत विस्तृत है; और बजाये इस के कि वह पौंड और रुपये के मूल्य को बाज़ार की आवश्यकतानुसार घटने बढ़ने दे, उस ने इस काम को अपने हाथ ले रखा है। कुछ सिद्धान्तों को सन्मुख रखकर गवर्नमेन्ट रुपये की क़ीमत अंगरेज़ी सिक्के में स्थिर कर देती है। युद्ध के पहिले एक पौंड पन्द्रह रुपये का था; अर्थात एक रुपया सोलह पेन्स के बराबर था। गवर्नमेन्ट ने प्रबन्ध किया हुआ था कि यदि रुपये का मूल्य १६ पेन्स से बढ़ जाये, अर्थात् विलायतवालों को बाज़ार में एक पौंड के पन्द्रह रुपये न मिल सकें, तो भारतमंत्री को हर एक आदमी को उस निर्ख़ पर

रुपये देने होते थे। इस प्रकार का प्रबन्ध अब भी जारी है। दूसरी ओर एक रुपये का मूल्य यदि १६ पेन्स से कम हो जाय, तो भारतसरकार भारतमन्त्री की आज्ञा से एक रुपये के १६ पेन्स सदा देने को तय्यार रहती है। भारतमंत्री के पौण्डों के सौदे को कौंसल बिल कहते हैं और भारतसरकार के सौदों को रिवर्स कौंसल बिल। इस प्रबन्ध का लाभ यह बतलाया जाता है कि न रुपये का मूल्य बढ़ेगा और न व्यापारियों के भाव चुकाने में कठिनाई होगी।

अब प्रश्न यह है कि गवर्नमेन्ट इस दुतरफे घाटे को कैसे पूरा करती है। हमने पिछले अध्याय में बताया है कि रुपया हिन्दुस्तान का नक़ली सिक्का है। इस में चान्दी केवल नौ आने की है। सात आने प्रत्येक रुपये पर गवर्नमेन्ट को लाभ होता है। इस लाभ को गवर्नमेन्ट एक रिज़र्व में एकत्रित करती है, जिसे गोल्ड स्टैण्डर्ड रिज़र्व कहते हैं। गवर्नमेंट इसी रिज़र्व में से घाटे को पूरा करती है। हिन्दुस्तान में इस रिज़र्व का कुछ भाग चान्दी में रखा जाता है, जिसको सिलवर रिज़र्व कहते हैं। घाटा पड़ने पर भारतसरकार सिलवर रिज़र्व में से रुपये देती है और भारत-मन्त्री गोल्ड रिज़र्व में से पौंड।

चान्दी और रुपये का मूल्य क्यों बढ़ा?

युद्ध के आरम्भ होने से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति में खलबली सी मचगई। लन्दन के दलालों ने अन्य देशों में जो सौदे किये हुए थे उन का उन्हें रुपया न मिला। परिणाम यह हुआ कि सर्वत्र गड़बड़ मचगई। बैंक रुपये देने में असमर्थ होगये। गवर्नमेंट को विवश होकर उन्हें कुछ दिनों की छुट्टी देनी पड़ी। जब लोगों ने उन पर नक़द के लिये धावा बोला तब वे उस की सहायता से नक़द देने में सफलीभूत हुए। स्टाक एक्सचेंज

(हिस्सों के क्रयविक्रय की मंडी) बन्द होगई। भारत बहुत कुछ इन दुर्घटनाओं से बचा रहा। अगस्त १९१७ तक भारत में कुछ हलचल न मची। परन्तु उस के पश्चात संकट आरम्भ हुआ। चान्दी का मूल्य बढ़ने लगा और अगस्त में ही गवर्नमेंट को रुपये का मूल्य १७ पेन्स करना पड़ा; मूल्य बढ़ता ही गया; यहां तक कि ३१ दिसम्बर, १९१९ को रुपये की क़ीमत २८ पेन्स होगई, जोकि उस के पहिले मूल्य से दुगुनी थी। आओ देखें, इस की तह में क्या बात थी।

१ भारत से कच्चा माल बहुत बड़े परिमाण में देशान्तर जाता है। युद्धकाल में उस की गाहकी बहुत अधिक रही। इस का परिणाम यह निकला कि भारतीय पूंजीपतियों का विलायतवालों से लेन अधिक हो गया और अन्य देशों से कम। परन्तु दूसरी ओर जिन देशों के साथ हमारा आयात व्यपार था वह युद्ध के कारण बिलकुल बन्द होगया। नतीजा यह हुआ कि पौंड के तमस्सुक बाज़ार में अधिक आगये और उन के गाहक कम। इस लिये पौंड के भाव का गिरना अथवा रुपये के भाव का बढ़ना स्वाभाविक था।

२ ब्रिटिश सरकार को युद्धकाल में भारत से बहुत सी युद्धसामग्री ख़रीदनी पड़ी। उस के दाम उस समय तो भारत में दिये नहीं जा सकते थे। वे भारतमंत्री को लन्दन में ही दे दिये गये। इस से उस के पास पौण्ड जमा होने आरम्भ हो गये। उधर भारतसरकार ने युद्धसामग्री का दाम भारत में रुपयों में चुकाया। इस कारण रुपये की मांग बढ़गई और उस का मूल्य भी बढ़ना स्वाभाविक था।

३ युद्ध के कारण सोने की मंडी को भी बहुत धक्का पहुंचा। अन्तर्राष्ट्रीय सिक्के का धातु होने के कारण सब जातियों ने उस के व्यापार में रुकावटें डालदीं। इस से सोने का एक प्रकार से अभाव होगया और चान्दी का दाम बढ़ने लगा। भारत पर भी इस परि-

वर्तन का असर पड़ा। जहां युद्ध के पहिले पांच वर्षों में बारह करोड़ रुपये का सोना उस में खपा था, वहां युद्धकाल में केवल ३ करोड़ ६० लाख रुपये का। हमारे निर्यात के पदार्थों का कुछ मूल्य तो आयात के पदार्थों से चुक जाता है; परन्तु शेष मूल्य दूसरे देशों को हमें सोने में चुकाना पड़ता है, क्योंकि हमारा निर्यात व्यापार प्रायः आयात व्यापार से अधिक होता है। युद्धकाल में भी भारत का निर्यात व्यापार बढ़ जाने से दूसरे देश उस के ऋणी बन गये। कर्ज़ा चुकाने के लिये जब सोना न मिल सका तो चान्दी के लिये कोशिशें होने लगीं, और उस का दाम बढ़ने लगा।

अब हम समझ सकते हैं कि गवर्नमेन्ट को रुपये के मूल्य में परिवर्तन करने की क्यों आवश्यकता पड़ी। जब रुपये की चान्दी के वज़न का दाम २८ पेन्स हो गया और उस का क़ानूनी दाम केवल १६ पेन्स रहा, तब लोगों के लिये रुपये की अपेक्षा चान्दी अधिक क़ीमती होगई, और उन्हों ने उसे पिघला कर चान्दी के तौर पर बेचना आरम्भ कर दिया। इस से उन को प्रत्येक रुपये के पीछे बारह आने नफ़ा होने लगा और सरकार को उतनी ही हानि उठानी पड़ी। यही कारण था कि सरकार ने विलायत में घोषणा की कि भारतमंत्री विलायत में रुपयों की हुंडियां उसी भाव पर बेचेगा जिसपर वह बाज़ार में चान्दी मोल लेकर रुपये को बिना घाटे के बेच सकता है। अगस्त १९१७ में इस घोषणा को व्यावहारिक रूप दिया गया।

गवर्नमेन्ट के विनिमय निष्पत्ति में दखल देने और उसे इच्छानुसार निर्धारण करने से देश में बहुत हलचल मची। कभी शिलिङ्ग के १५ आने चार्ज किये जाने लगे, कभी दस और कभी आठ ही। आयात का माल सस्ता होने लगा; परन्तु निर्यात व्यापारियों को घाटे पर घाटा होने लगा। ऐसा क्यों हुआ, इस को जानना हर एक मनुष्य के लिये रुचिकर होसकता है।

पहिले निर्यातव्यापार को ही लीजिये। उदाहरण के लिये किसी भारतीय व्यापारी ने एक हज़ार पौंड की रुई इंगलैण्ड भेजी

है। जब एक रुपया सोलह पेन्स के बराबर है तब तो उसे १५००० रुपये मिलेंगे। परन्तु यदि सरकार की चाल से या और किसी कारण से रुपये की क़ीमत दो शिलिङ्ग होजाती है, तो बेचारे को केवल १०००० रुपये मिलेंगे और ५००० रुपये का घाटा उठाना पड़ेगा।

दूसरी ओर ऐसे व्यापारी को लीजिये जिस ने १००० पौण्ड का माल इंगलैण्ड से मंगाया है जब रुपये की क़ीमत १६ पेन्स है। उसे, और चीज़ों में यदि परिवर्तन न आये, तो १५००० रुपये के पौण्ड ख़रीद कर इंगलैण्ड भेजने पड़ेंगे। परन्तु यदि कुछ कारणों से रुपया दो शिलिंग के बराबर होजाये तो केवल १०००० रुपये के पौण्ड ख़रीदने से उस का काम चल जायेगा और ५००० रुपये का उसे नफ़ा होगा।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो गई है कि विलायत से माल मंगवानेवालों को रुपये का मूल्य बढ़ जाने से लाभ है और वहां माल भेजनेवालों को हानि। यही कारण था कि जब भारतसरकार ने विनिमय निष्पत्ति को अपनी ओर से निर्धारण करने का प्रयत्न किया था तो चारों ओर हलचल मचगई थी। विदेशी बना हुआ माल (साइकल, मशीनरी, मोटरें, कपड़ा, चीनी इत्यादि) सस्ता होने लग पड़ा था और आयातव्यापारियों को लाभ होना आरम्भ हुआ था; और कच्चे माल के उत्पादकों और व्यापारियों को घाटे पर घाटा उठाना पड़ा था। हमारे उद्योग-धन्दों को भी रुपये के तेज़ होने से धक्का पहुंचा, क्योंकि विदेशी सस्ते माल का उनके माल के साथ मुक़ाबला होने लगा।

अभी विनिमय निष्पत्ति के निरंतर हेरफेरों से लोगों की घबराहट दूर नहीं होने पाई थी कि भारतमंत्री ने एक और भारी भूल की। युद्ध चलाने के लिये ब्रिटिश सरकार ने भारतसरकार की मारफ़त १४४०००००० पौण्ड की युद्धसामग्री भारत से ख़रीदी थी। और यह सब रक़म उसने भारतमंत्री के यहां जमा

करदी थी। न मालूम क्यों भारतमंत्री को अकस्मात् यह सूझा कि इस सब रुपये को तुरन्त भारत पहुंचा देना चाहिये। पौण्ड के दाम गिर जाने से भारतमंत्री ने इस झमेले को और भी हानिकारक बना दिया। उचित तो यह था कि जब पौण्ड का भाव गिर रहा था वह भारत रुपये न भेजता। परन्तु उसने अपने पौण्डों को भारत में रुपये की हुंडियों के बदले बेचना आरम्भ कर दिया। जिन लोगों को इंगलैण्ड रुपया भेजना होता था वे भारतसरकार को कलकत्ते में रुपये देकर उससे भारतमंत्री के नाम पौण्डों की हुंडी खरीद लेते थे। इस प्रकार पौण्ड बेचने की आवश्यकता केवल उसी समय हुई जब विनिमय निष्पत्ति गिर रही थी और जब हमें इस सौदे में घाटा था। परन्तु विनिमय निष्पत्ति जब स्थिरता की ओर आरही थी तब भी भारतमंत्री ने पौण्डों की बिक्री को जारी रखा और इस प्रकार उन के सस्ता होने में सहायता दी। जहां मंडी में पौण्ड पन्द्रह रुपये पर बिक रहा था वहां वह उसे नौ रुपये पर ही बेचता रहा। उसके इस स्वेच्छाचार का नतीजा यह हुआ कि भारत को हर पौण्ड के पीछे छै रुपये घाटा हुआ। अनुमान लगाया गया है कि इस दरिद्र देश को इस प्रकार ५० करोड़ रुपये की हानि पहुंची। कहा जाता है कि रुपये का मूल्य नयी क़ानूनी विनिमय निष्पत्ति (अर्थात् दो शिलिङ्ग) पर स्थिर करने के लिये पौण्डों का बेचना आवश्यक था। परन्तु क्या इन सौदों का यह परिणाम हुआ? इस समय रुपये का मूल्य २० पेन्स है और सरकार को ५० करोड़ रुपये की हानि व्यर्थ में हुई है। उसने तनिक भर भी विचार नहीं किया कि उसकी विनिमय निष्पत्ति सम्बन्धी नीति से भारत को कितनी हानि पहुंचेगी। हमारी गवर्नमेन्ट कब यह समझेगी कि विनिमय को कृत्रिम साधनों द्वारा स्थिर नहीं किया जासकता और उसके हस्तक्षेप से लाभ की जगह हानि अधिक होती है।

कागज़ी रुपया या नोट

करंसी के प्रसंग में हम बता चुके हैं कि किस प्रकार जन-संख्या और व्यवहार के बढ़ने से लोग इस बात के लिये बाध्य हुए कि 'अदल बदल' की प्रथा को छोड़ कर सिक्के का प्रयोग आरम्भ करें। यह परिवर्तन कोई विशेष उत्सव या प्रस्ताव पास करके कार्यरूप में परिणत नहीं किया गया; प्रत्युत धीरे २ किसी वस्तु का सिक्के के रूप में प्रयोग समाज में प्रचलित होता गया। जो वस्तु भी देश, समाज या समूह की अवस्था के अनुसार विशेषरूप से माननीय थी, प्रथमतः उसी का प्रयोग सिक्के के रूप में हुआ। और ज्यों ही लोगों को उस में कोई त्रुटि प्रतीत होने लगी, त्यों ही वे उसको त्याग कर दूसरी वस्तु को सिक्का बनाने गये; यहां तक कि सभ्य संसार ने सोने चान्दी के उपयोग को वर्तमान काल में इस कार्य के लिये उपयुक्त समझा। सोनाचान्दी ठोस, स्थायी, दुष्प्राप्य होने के अतिरिक्त देखने में सुन्दर हैं और आभूषण इत्यादि के बनाने के उपयोग में भी लाई जाती हैं। इस लिये यदि चान्दी और सोने के वास्तविक सिक्के पर से मोहर उठादी जाये, अथवा राज्य-परिवर्तन हो जाये, तो भी सिक्का व्यर्थ नहीं जाता। क्योंकि उसको पिघलाने से धातु बाज़ार में बिक सकती है।

परन्तु जिस प्रकार सोने चान्दी ने बाकी वस्तुओं को सिक्के के रूप में वर्ते जाने से रोक दियां, उसी प्रकार अब प्रतीत होता है कि कागज़ जैसी तुच्छ वस्तु उसको अपने स्थान से गिरानेवाली है, क्योंकि नोट, चिक और हुंडियों का व्यवहार हर सभ्य देश में बढ़ता जाता है, और शीघ्र ही भविष्य में नोट आदर्श करंसी हो जायेंगे। जनसंख्या और सभ्यता के बढ़ जाने से कारवार, लेनदेन और व्यापार का परिमाण दिन दूना और रात चौगुना हो रहा है। परन्तु विनिमय का यह सारा काम करने के लिये सोने चान्दी का

परिमाण अपर्याप्त है, क्योंकि उन की पैदावार में प्रकृति का हाथ है। सोने चान्दी की कानों में वृद्धि नहीं हो सकती। वैसे भी सोनेचान्दी जैसी सुन्दर धातुओं का अदल बदल करना, या उनको क्रय-विक्रय के उपयोग में लाना, काव्य दृष्टि से भला प्रतीत नहीं होता। सिक्के घिस २ कर वज़न में कम होते रहते हैं। यदि हरएक सिक्का वर्ष भर में एक पैसा ही घिस कर कम होवे, और यदि एक देश के सब सिक्कों के घिसने के अंकों का संकलन किया जाये, तो सब देशों को लाखों रुपये का घाटा सहन करना पड़ता है। स्थानान्तर ले जाने का कष्ट खर्च और बोझ इसके अतिरिक्त है। सोनाचान्दी खाने, पीने और ओढ़ने के काम नहीं आते वे वास्तविक धन नहीं प्रत्युत केवल विनिमय का साधन हैं। तो क्या यह खेदजनक बात नहीं कि विनिमय के साधन को प्राप्त करने के लिये लाखों श्रमजीवि, करोड़ों रुपये की मशीनें और बड़े २ विज्ञानवेत्ता कानों में लगाये जायें जब कि सोने चान्दी से भी उत्तम विनिमय का साधन मिल सकता है जिस पर खर्च नाममात्र भी नहीं होता है, जिस को स्थानान्तर लेजाने का खर्च और भय भी बहुत कम है, और जिस के परिमाण को वाणिज्य की आवश्यकतानुसार घटाया बढ़ाया जासकता है ? इन्हीं लाभों को सन्मुख रखते हुए व्यापारियों ने प्राचीन काल से भारत में हुंडियों का व्यवहार प्रचलित किया था, ताकि एक मनुष्य को एक नगर से दूसरे नगर में क्रयविक्रय के लिये जाते समय न सिक्कों का बोझ उठाना पड़े और न ही उस की जान खतरे में पड़े। एक क़ागज़ का पुर्ज़ा इन दोनों आपत्तियों से बचाने के लिये काफ़ी था। ऐडमस्मिथ ने जोकि अर्थशास्त्र का जन्मदाता समझा जाता है, कहा है कि कागज़ी रुपये या नोट एक प्रकार से वायु में सड़कों के समान हैं, क्योंकि यदि सड़कें वायु में बना ली जायें, तो नीचेवाली लाखों एकड़ की भूमि खेती के लिये मिल सकती है। अर्थात् इस समय जो लाखों श्रमजीवि और अगणित रुपया

सोना खोदने में लगाया जा रहा है, वह सब कुछ जीवनसामग्री प्राप्त करने में लगाया जा सकता है।

सब से पहिले कागज़ी रुपये का स्वरूप हुंडी था। परन्तु हुंडी सर्वसाधारण के उपयोग में नहीं आसकती। क्योंकि कोई मनुष्य जबतक हुंडी लिखनेवाले को या जिसके नाम पर वह लिखी गई है, उन दोनों को भली भान्ति न जानता और उन पर विश्वास न रखता हो, हुंडी लेने को तय्यार न होगा। इस लिये हुंडी रुपये का स्थान नहीं ले सकती और इसी प्रकार वर्त्तमान बेंकों के चिक भी। इस लिये हम इस प्रसंग में केवल उन नोटों के सम्बन्ध में लिखेंगे जो किसी देश की गवर्नमेन्ट या उन बैंकों की ओर से प्रचलित होते हों, जिन्हें गवर्नमेन्ट से ऐसा करने की अनुमति हो और जो देश में क़ानूनी सिक्के की हैसियत रखते हों।

जहां हम ने नोटों के उपयोग के लाभों का वर्णन किया है, वहां हम धातुओं के सिक्कों और नोटों में जो अन्तर है उस पर कुछ कहना चाहते हैं। प्रथम तो कागज़ी रुपयों या नोटों का मूल्य एक नहीं रह सकता, क्योंकि उनका मूल्य सरकारी सम्बन्ध पर अवलम्बित है। यदि सरकार उनके बदले रुपये देने से इन्कार करदे, तो वे केवल कागज़ के पुर्ज़े रह जाते हैं, विशेषकर जब कि राज्य बदल जावे या बदलने की सम्भावना हो, तो उनकी कोई पूंछ नहीं होती। यह असुविधा धातु के सिक्कों में नहीं, क्योंकि राज्य बदल भी जाये, तोभी वे पिघलाये जा सकते हैं और धातु वेची जा सकती है। और उसके बदले अन्य पदार्थ ख़रीदे जा सकते हैं।

नोट अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये उपयोगी नहीं। उनका मूल्य देश के क़ानून पर निर्भर है। जहां किसी देश का क़ानून नहीं माना जाता, वहां उसके नोट भी कागज़ के टुकड़ों के तुल्य समझे जाते हैं। विदेशी माल के दाम चुकाने, दूसरे देशों को

ऋण देने या उन से लेने में सोने चान्दी के सिक्के ही काम में लाये जा सकते हैं, क्योंकि सराफ़, जिन का काम एक देश के सिक्कों के बदले दूसरे देश के सिक्के देना है, यह काम कमीशन लेकर करने के लिये सर्वदा तत्पर रहते हैं। सिक्कों में जितनी खालिस धातु होती है उसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उनका मूल्य निर्धारित होजाता है। परन्तु कागज़ी नोट का मूल्य एक पाई से भी कम है।

नोटों के प्रचलित करने में सदा यह आशंका रहती है कि कहीं वे अधिक संख्या में न जारी किये जायें और इस प्रकार जैसे कि हम पहिले लिख चुके हैं वे देश में दाम बढ़ाने का कारण न हो जायें। सोने चान्दी के सिक्कों में यह बात नहीं है, क्योंकि उन का परिमाण बढ़ाना मनुष्य के हाथ में नहीं।

वास्तव में बात यह है कि नोटों का व्यवहार उसी देश में बढ़ सकता है जहां सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रचार हो, लोगों की औसत आय अधिक हो और नोटों के आर्थिक महत्व से वे भली भान्ति परिचित हों। यही कारण है कि योरुप और अमरीका में नोटों और चिकों का व्यवहार बहुत बढ़ रहा है; यहां तक कि साधारण लेनदेन में सोने का सिक्का देखने में भी नहीं आता।

पहले पहल भारत में नोट १७७० में प्रचलित किये गये। उस वर्ष से लेकर मार्च १८६२ तक भारत सरकार का नोटों के प्रचलित करने से कोई सीधा सम्बन्ध न था। ये नोट तीन प्रेसीडेन्सी बैंकों और अन्य प्राईवेट बैंकों की ओर से प्रचलित किये जाते थे। उनका देश की आर्थिक अवस्था पर प्रभाव कभी बहुत अधिक नहीं हुआ, क्योंकि वे क़ानूनी सिक्का न थे, और सरकार का कोई सम्बन्ध न होने से लोगों का उन पर विश्वास भी बहुत कम था। वास्तव में ये नोट, अंगरेज़ व्यापारियों, कर्मचारियों और कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के बड़े २ नगरों में वाणिज्य करनेवालों की सुविधा के लिये, विविध बैंक प्रच-

लित करते थे। इससे उनको कुछ लाभ भी होता था। भारतीय जनता में नोटों का व्यवहार बहुत कम था।

१८६२ तक यह अवस्था रही। प्रेसीडेन्सी बैंकों के नोटों का परिमाण, जो कि वे प्रति मास प्रचलित कर सकते थे, उस समय ५ करोड़ रुपये था। इन बैंको को नोटोंकी क़ीमत पच्चीस सैंकड़ा भाग अथवा सवा एक करोड़ रुपये नक़द रिज़र्व में रखने पड़ते थे, ताकि लोगों का उन पर विश्वास बना रहे।

नोटों की इस कम संख्या से स्पष्ट था कि जबतक गवर्नमेन्ट यह काम स्वयम् अपने हाथों में नहीं लेती, नोट देश में कभी सर्वप्रिय नहीं हो सकते। बहुत वादविवाद के पश्चात भारत-सरकार ने १८६१ में काग़ज़ी सिक्के का क़ानून पास किया, जिस को १८६२ में कार्यरूप में परिणत किया गया। इस क़ानून के अनुसार भारत में नोट प्रचलित करने का ठेका भारतसरकार ने स्वयम् अपने हाथ में ले लिया। किसी प्राईवेट बैंक को नोट प्रचलित करने की आज्ञा न थी। जितने नोट सरकार जारी करती थी, उसे उन के बदले नक़द चांदी या सोना पेपर करंसी रिज़र्व में रखना पड़ता था, यद्यपि एक विशेष मात्रा तक सरकार नक़द की बजाय सरकारी तमस्सुक भी रख सकती थी। ये नोट देश भर में क़ानूनी सिक्का बनाये गये।

१८६२ से १९०२ तक कई एक क़ानून पास किये गये, और नोटों के परिमाण, सरकारी तमस्सुकों के परिमाण और नोट जारी करनेवाले सरकलों की तादाद में बढ़ाव घटाव होता रहा; यहां तक कि १९१४ में युद्ध से पहिले नोट सिस्टम की भारत में नीचे लिखी अवस्था थी।

जहां १८६२ में ७ करोड़ ६३ लाख रुपये के नोट प्रचलित थे, वहां १९१४ में उनकी संख्या ६६ करोड़ १२ लाख तक पहुंच गई थी। उन नोटों की पीठ पर जो पेपर करंसी रिज़र्व था उस में ४२ करोड़ ६७ लाख रुपये का सोना चान्दी भारत में और

६ करोड़ १५ लाख का सोना विलायत में रखा हुआ था। शेष १६ करोड़ रुपये नोटों के बदले उस में भारतसरकार और ब्रिटिश सरकार के ऋण के तमस्सुक थे।

१८६२ में जब सरकार ने नोट जारी करने का काम स्वयम अपने हाथ में लिया, सारे देश को उस ने सात मंडलों में बांटा। इन्हें सरकल कहते हैं। एक सरकल का नोट दूसरे सरकल में क़ानून के अनुसार तुड़वाया नहीं जासकता था। सरकल में निम्नलिखित सात नगर थेः— कलकत्ता, मद्रास, बम्बई, लाहौर, रंगून, कानपुर और कराची। यह बन्धन पहिले छोटे से छोटे नोट पर भी था। अर्थात् बम्बई सरकल का पांच रुपये का नोट यदि लाहौर सरकल में किसी के पास हो तो वह उस के बदले सरकारी खज़ाने या करंसी आफ़िस से नियमानुसार रुपये लेने का अधिकारी न था, यद्यपि साधारण व्याहार में इन्कार कभी नहीं किया जाता था। यह बन्धन छोटे नोटों के लिये धीरे २ तोड़ दिया गया। तदनुसार युद्ध के आरम्भ में पांच रुपये से लेकर सौ रुपये तक के नोट सार्वदेशिक कर दिये गये; अर्थात् वे भारत में किसी भी स्थान पर तुड़ाये जा सकते थे। ऐसा करने से नोटों की सर्वप्रियता बढ़ गई। १९१३ की चेम्बरलेन कमिशन ने भारत के नोट सिस्टम में कुछ परिवर्तनों की सिफ़ारिशें कीं। इन में प्रधान सिफ़ारिश यह थी कि पेपर करंसी रिज़र्व में कितना नक़द होना चाहिये और कितने के तमस्सुक, और रिज़र्व और नोटों की संख्या में क्या अनुपात होना चाहिये। ये दोनों बातें निश्चित हो जानी चाहियें, ताकि नोटों और तमस्सुकों की संख्या को निर्धारित सीमा के अन्दर बढ़ाने घटाने में किसी प्रकार की अड़चन का सामना न करना पड़े। अभी इस सिफ़ारिश को कार्यरूप में परिणत नहीं किया गया था कि युद्ध आरम्भ हो गया।

युद्धकाल भारतीय नोट सिस्टम के लिये बहुत शिक्षापूर्ण था। एक समय ऐसा भी आया जब, कि आशंका थी कि सरकार

नोटों के बदले चान्दी देने में नितान्त असमर्थ हो जायेगी और नोटों की सर्वप्रियता को बहुत धक्का पहुंचेगा। परन्तु अमरीका की समय पर सहायता मिलने से बला टल गई। युद्ध से जर्मनी, फ्रांस, इटली, रूस और योरुप के अन्य देशों के नोट सिस्टमों को जो हानि पहुंची है उसके दसवां भाग के बराबर भी भारतीय नोट सिस्टम को हानि नहीं पहुंची। युद्ध का समाचार आने के साथ ही लोगों ने नोट तुड़वाने आरम्भ कर दिये। परन्तु चूंकि रुपये लेने में कठिनता न हुई, इस लिये शीघ्र ही लोगों का सरकार के प्रति फिर से विश्वास हो गया और वाणिज्य की वृद्धि के साथ साथ नोटों की संख्या में भी वृद्धि होती गई। चान्दी की न्यूनता के कारण सरकार की ओर से भी यह प्रयत्न किया गया कि रुपयों की जगह नोट क्रमशः अधिक प्रचलित किये जायें। इसी उद्देश्य से एक रुपये और अढ़ाई रुपये के नोट दिसम्बर १९१७ और जनवरी १९१८ में क्रमवार जारी किये गये।

३१ मार्च १९१४ से ३१ मार्च १९१९ तक नोटों की संख्या ६६ करोड़ रुपये से बढ़ कर १ अरब ५३ करोड़ रुपये तक पहुंच गई। इस प्रकार नोटों के परिमाण में १३२ प्रति सैंकड़ा की वृद्धि हुई।

परन्तु चान्दी और इस कारण रुपये की कमी से लोगों में खलबली-सी मच गई और देश भर में नोटों पर बड़ी कटौती लगने लगी। करयाने के सिक्के भी मांग की अपेक्षा कम हो गये। इस से अनेक स्थानों पर डाकखाने की टिकटों से उनका काम लेना पड़ा। वास्तव में बात यह थी कि लोगों ने रुपये और चान्दी की कमी के कारण छोटे सिक्के भी गाड़ने आरम्भ कर दिये थे। लोग धड़ाधड़ करंसी आफ़िसों से रुपये लेने लगे। इस से यह आशंका हुई कि कहीं ऐसा न हो कि रुपये करंसी रिजर्व में बिलकुल ही न रहें और सरकार को इस बात की घोषणा करनी पड़े कि नोटों की जगह रुपया नहीं दिया जायेगा। इस खतरे को दूर करने के लिये सोने चान्दी को स्थानान्तर ले जाने की मनाही

की गई। इस प्रकार करंसी आफ़िस के सिवाय, जहां सरकार को क़ानून के अनुसार बाध्य किया जा सकता है, बाक़ी सरकारी खज़ानों से नोटों के बदले रुपये दिये जाना बन्द किया गया। करंसी आफ़िस में भी एक परिमाण स्थिर किया गया, जिस से अधिक एक दिन में एक मनुष्य को रुपया नहीं मिल सकता था। परन्तु जैसा कि हर एक मनुष्य समझ सकता है, इन बन्धनों से ख़तरा कम होने के बदले बढ़ जाता है और नोटों पर विश्वास और भी कम होने लगता है; इस लिये भारतसरकार ने ब्रिटिश सरकार की मारफ़त अमरीकन गवर्नमेन्ट से चान्दी खरीदने का प्रयत्न किया, जिन में वह सफल हुई; और इस प्रकार ख़तरा कुछ कम हुआ।

जैसाकि ऊपर कहा गया है, युद्ध से पहिले क़ानून के अनुसार भारतसरकार पेपर करंसी रिज़र्व में १४ करोड़ रुपये के तमस्सुक रख सकती थी। बाक़ी कुल रिज़र्व में उसे सोना चान्दी रखना पड़ता था। अब युद्धकाल में जब नोटों के परिमाण में वृद्धि करनी पड़ी और जबकि सोना चान्दी का बाहर से मिलना कठिन होगया, यह बन्धन तोड़ना पड़ा, क्योंकि इस के होतेहुए सरकार को प्रत्येक पांच रुपये के नोट के बदले पांच रुपये नक़द रिज़र्व में रखने पड़ते थे। इस से रोकड़ की कमी का दूर होना एक ओर रहा, रोकड़ की मांग और भी बढ़गई। इस बन्धन को दूर करने के लिये १९१५ से १९१९ तक सरकार को छैः वार क़ानून में परिवर्तन करना पड़ा। यहांतक कि क़ानून नम्बर २, १९१९ के अनुसार भारतसरकार को आज्ञा दी गई कि वह करंसी रिज़र्व में एक अरब रुपये के तमस्सुक रख सकती है, जिसमें ८६ करोड़ रुपये के तमस्सुक ब्रिटिश सरकार के होने चाहियें। दूसरे शब्दों में इसका यह अभिप्राय था कि भारतसरकार को अब नोट जारी करते समय उतनी रोकड़ नहीं रखनी पड़ती थी, जितनी कि पहिले। १९१९ में १ अरब ५३ करोड़ ४६ लाख

रुपये के नोटों के बदले करंसी रिज़र्व में केवल ५४ करोड़ ८८ लाख रुपये सोने चान्दी में थे और ६८ करोड़ ४८ लाख तमस्सुकों में। इन में भारतमंत्री के अपने तमस्सुक भी सम्मिलित थे। १९२० की करंसी कमेटी ने इस सारे मामले पर ध्यान देकर रिपोर्ट की है कि कुल नोटों का कम से कम ४० प्रति सैंकड़ा रोकड़ रिज़र्व में रखना चाहिये। उनके मतानुसार नोटों को परिवर्तनीय रखने में तमस्सुकों और रोकड़ का यह अनुपात काफ़ी है।

इस सब इतिहास पर ध्यान देने से यह विदित होगा कि गत दस बारह वर्षों में नोटों के परिमाण और सर्वप्रियता में बहुत उन्नति हुई है। यद्यपि नगरों से दूरवर्ती ग्रामों में नोटों को लेनदेन में वर्तने में कठिनाई होती है, तोभी उन को उस सन्देह की दृष्टि से नहीं देखा जाता जिस से वे पहिले देखे जाते थे। नोटों के प्रचलित होने से सोने चान्दी को गाड़ने की प्रथा भी उठती जाती है। परन्तु इन आशाजनक बातों के होते हुए भी इस से इन्कार नहीं किया जा सकता कि देश में नोटों को जारी करने में गत कुछ वर्षों में बहुत तेज़ी की गई है, जो ख़तरे से खाली नहीं; क्योंकि देश की अधिकांश जन-संख्या अनपढ़ और लकीर की फ़क़ीर है और काग़ज़ी रुपयों के लाभ अभी तक उनकी समझ में नहीं आये। अनपढ़ों का तो कहना ही क्या, बहुत से पढ़ेलिखे भारतीयों के मन में यह सन्देह है कि सरकार काग़ज़ी नोट जारी कर के सोना चान्दी देश से बाहर ले जारही है। इस लिये आवश्यकता है कि इस ओर धीरे २ क़दम उठाया जाये। नोट जारी करने में सरकार को भी लाभ है। करंसी रिज़र्व में जो तमस्सुक रखे जाते हैं उन पर ब्याज आता है। नोट छपवाने में ख़र्च कुछ भी नहीं होता। जब कभी कोई वस्तु सरकार ने ख़रीदनी हो या अपने कर्मचारियों को वेतन देना हो तो उसके पास सरल उपाय यह है कि नोट छपवा कर वह दाम और वेतन देना आरम्भ करदे। अब यदि

सरकार क़ानून के अनुसार बाध्य हो कि वह निश्चित परिमाण के पश्चात हर एक नोट के पीछे रोकड़ रिज़र्व में रखे, तो उस में विशेष हानि नहीं, क्योंकि नोट रिज़र्व में पड़ी हुई सोनेचान्दी के प्रतिनिधिस्वरूप हैं। परन्तु यदि सरकार स्वयम् कानून पास करके जब चाहे रिज़र्व में रखे जाने वाली रोकड़ के परिमाण को घटा दे और सब प्रकार के बन्धनों से अपने आप को मुक्त कर लें तो यह बात भयप्रद हो जाती है। क्योंकि इस का अभिप्राय यह हो जाता है कि जब कभी भी सरकार के खज़ाने में रुपया पैसा न रहे या बजट में घाटा पड़े, तभी सरकार उस घाटे को नये नोट जारी करके पूरा कर सकती है। यह बात भारतसरकार पिछले युद्ध के दिनों में करती रही है, और यही बात जर्मनी और रूसवालों ने की, और कर रहे हैं। इस का परिणाम यह हुआ है कि जर्मनी और रूस के काग़ज़ी सिक्के का मूल्य रद्दी काग़ज़ के बराबर होगया है।

नोट अधिक परिमाण में जारी करने से यह भी हानि होती है कि काग़ज़ों और धातु के सिक्कों की संख्या बढ़ जाती है। और जैसा कि हम पहिले लिख चुके हैं इस से वस्तुओं के दाम बढ़ जाते हैं, जो कि जनता के लिये हानिकारक हैं। आजकल वस्तुओं की महंगी में भारत सरकार की अधिक नोट जारी करने की नीति भी कुछ अंशों में ज़िम्मेवार है। नोट लौटाने और धातु के सिक्के उनके बदले जारी करने से, सिक्कों के परिमाण में कमी करके भारत सरकार बढ़ती हुई गिरानी कुछ अंश तक रोक सकती है।

——:o:——

बैंक

वर्तमान सभ्यता ने अपनी दैनिक व्यापारिक और व्यवहारिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये जिस वस्तु का सब से अधिक आश्रय लिया है वह बैंक है। पहिले जिन लोगों के पास पर्याप्त रुपया नहीं होता था, वे व्यापारिक और औद्योगिक धन्दे करने के लिये बिलकुल असमर्थ होते थे, क्योंकि साहुकारों से ऋण लेकर काम करना बहुत मंहगा पड़ता था। आजकल नाना प्रकार के कारखानों और कम्पनियों ने अपना काम इतना बढ़ा रखा है कि उन के लिये सारे के सारे नकद रुपये का प्रबन्ध करना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। इस लिये जहां संयुक्त मूलधन की कम्पनियां और कारख़ाने खुल रहे हैं, बैंकों से रुपये ऋण पर लेकर व्यापार का क्षेत्र भी विस्तृत हो रहा है। अब साहुकारों की हुंडियां चलने के बजाय बैंकों की हुंडियां चलती हैं। और चूंकि बैंक करोड़ों मनुष्यों का कारोबार करते हैं, इस लिये वे बहुत कम व्याज पर लोगों का काम कर सकते हैं।

यदि आप को रुपये भेजने की आवश्यकता हो, तो बैंक थोड़ी फीस पर काम कर देंगे। आप कोई कारख़ाना खोलना चाहते हैं, इस प्रस्ताव में यदि आप बैंक को विश्वास दिला सकते हैं कि कारख़ाना चलाने से लाभ होगा, तो बैंकवाले आप की सहायता करने को तय्यार होजायेंगे। यदि आप संयुक्त मूलधन से काम करना चाहें, तो बैंक वाले आप के हिस्सों को ख़रीद लेंगे, और बाकी हिस्सों की बिक्री के लिये प्रयत्न करेंगे। यदि आप व्यापारी हैं और दो हज़ार रुपये का माल आप के यहां पड़ा हुआ है परन्तु आप १५ हज़ार का सौदा और करना चाहते हैं; तो बैंक वाले पहिले माल की ज़मानत पर एक तमस्सुक लिखा कर बाज़ारी व्याज के दर पर आप को रुपये ऋण पर देदेंगे। आप ने माल

बेचा है और आप को ३० दिन की मियादी हुंडी मिली है तो यह आवश्यक नहीं कि आप इतने दिन प्रतीक्षा करें। आप किसी बैंक में जा कर अपनी हुंडी बेच सकते हैं। अर्थात आप की हुंडी बाज़ारी व्याज के दर पर मिती काट कर ख़रीदी जा सकती है। और आप उसी समय कोई नया सौदा कर सकते हैं। यदि किसी ने माल ख़रीदा है और उस के बदले ३० दिन की हुंडी लिखी है और माल बिक नहीं सका तो भी बैंक आप की सहायता के लिये उपस्थित हैं, क्योंकि प्रामिसरी नोट या किसी चीज़ की ज़मानत पर रकम मिल सकती है। मान लीजिये आप लखपति या करोड़पति हैं और यह कष्ट नहीं उठाना चाहते कि बाज़ार जाते समय दिन भर के व्यवहार के लिए रुपये की थैलियां आप अपने साथ लेजायें। इस के लिये यह हो सकता है कि आप रुपया बैंक में जमा कर दीजिये। आप को एक चिकबुक मिल जायेगी। जब कभी किसी को रुपये देने हों, चिकबुक में से एक सफ़ा फाड़ बैंक के नाम रुपये देने की आज्ञा लिख दीजिये। यदि आप को किसी ने चिक दिया है, तो आवश्यक नहीं कि आप उसी के बैंक से रुपये लायें। नहीं, आप अपने में जाइये। आप के बैंकवाले हिसाब समझ लेंगे और रुपये आप को देदेंगे, यदि आप यह निश्चय करा सकें कि चिक देनेवाला दिवालिया नहीं। यदि आप को किसी धन्दे में रुपया लगाना है, तो बैंक वाले आपको ठीक परामर्श देंगे। यदि आप ज़िमींदार हैं, तो अपने बैंक को जाईये। वह आप को कुछ निश्चित शर्तों पर रुपया देगा और उसकी वापिसी के सम्बन्ध में आप की इच्छानुसार प्रबन्ध कर देगा। सारांश में इस प्रकार की अनेक सेवायें हैं जो बैंक बहुत थोड़ी ज़मानत लेकर लोगों की करते हैं।

यही कारण है हर एक सभ्यजाति ने बैंकों की ओर विशेष ध्यान दिया है। जापान में पहिला बैंक १८७५ में खुला था और १९१५ में वहां २१५२ बैंक थे। इंगलैंण्ड की जनसंख्या लगभग

५ करोड़ है परन्तु वहां बैंकों की शाखाओं की संख्या ६१३४ है। कैनेडा की एक करोड़ की जनसंख्या में ४००० के लगभग बैंकों की शाखायें हैं। इंगलैण्ड के बैंकों में जो रुपया जमा है वह ४७० रुपये प्रति मनुष्य पड़ता है। भारत की अवस्था इस सम्बन्ध में शोचनीय है। ३१ करोड़ की जनसंख्या के लिये केवल १६५ स्थानों पर बैंकों का प्रबन्ध है। छोटे बड़े बैंकों के यहां ६० से ऊपर हेड आफ़िस हैं और उन की ३०० के लगभग शाखायें काम कर रही हैं। ५० हज़ार से अधिक जनसंख्या वाले भारत में ७० नगर हैं, जिन में सोलह में कोई बैंक या उनकी शाखा नहीं। १० हज़ार से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में केवल २० प्रति सैंकड़ा में बैंक हैं। भिन्न २ बैंकों में जमा रुपयों की औसत १९११ में पांच रुपये प्रति मनुष्य थी। भारत के सब बैंकों में जो रुपया है उससे कहीं अधिक इंगलैण्ड के बड़े २ बैंकों में से एक में जमा है।

भारत में ऐसे बैंक बहुत कम है जो नियमपूर्वक उद्योग-धन्दों में हाथ डालते हों। जो बैंक वाणिज्य में भाग लेते हैं उन के लिये यह आवश्यक शर्त है कि उन्हें इस प्रकार की हुंडियां खरीदनी चाहियें जो जल्दी ही नकदी में तबदील की जा सकें, जिससे ख़ज़ाने में रुपये का बहाव जारी रहे। ऐसे बैंकों के पास सरल उपाय यह हैं कि वे बहुकालिक ऋण न दें, और अपने रुपये ऐसे धन्दों में न फंसायें जिन से वसूल करने में कठिनाई हो। औद्योगिक काम करने वाले बैंकों के लिये अनिवार्य है कि वे कारखानों और इमारतों की ज़मानत पर ऋण दें। इस प्रकार के ऋणों की मियाद भी प्रायः लम्बी होती है। अनुभव हमें यह सिखाता है कि किसी बैंक के लिये औद्योगिक और वाणिज्य सम्बन्धी दोनों काम करना संकटरहित नहीं। इस देश में वाणिज्य सम्बन्धी बैंक तो हैं परन्तु दूसरे प्रकार का काम करने वाले बैंकों में टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक के सिवाय और कोई नहीं जिस की नींव दृढ़ हो। टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक के काम का अनु-

मान उस के अल्पकालिक इतिहास से नहीं लगाया जा सकता। परन्तु देश को उससे बहुत आशायें हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रकार के और भी बैंक स्थापित किये जायें। भारत में इस समय भी रुपया है जिस का साहुकारों को ठीक उपयोग मालूम नहीं। ये लोग रुपये को ज़मीन की खरीदारी, महाजनी और सट्टेबाज़ी में खर्च कर देते हैं। परन्तु ऐसा करने से केवल व्यक्तिगत लाभ होता है, सामाजिक नहीं। ज़रूरत यह है कि बचा हुआ रुपया व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के लाभ के लिये उपयोग में लाया जाये। इसके लिये यह उपाय बहुत अच्छा है कि हर बड़े शहर में बैंक या उनकी शाखायें होनी चाहियें, जो स्थानीय आवश्यकताओं को समझ कर उस स्थान के रुपये का सदुपयोग कर सकें। इस बात की भी बहुत भारी ज़रूरत है कि एक सेन्ट्रल बैंक स्थापित किया जाये। हर एक देश में इस प्रकार के बैंक हैं जिन पर आपत्तिकाल में छोटे २ बैंक भरोसा रखते हैं।

कई लोगों का ऐसा मत है कि यदि १९१३ में कोई ऐसा सेन्ट्रल बैंक होता तो इतने बैंक न टूटते। अभी एक कानून पास किया गया है जिसके अनुसार बंगाल बैंक, बम्बई बैंक और मद्रास बैंक को मिला कर एक सेन्ट्रल बैंक बना दिया जायगा। इस बात का प्रबन्ध किया गया है कि उन के डाइरेक्टरों के बोर्ड में कुछ भारतवासी भी हों, यद्यपि भारतीय व्यापारी इस रिआयत को बहुत तुच्छ समझते हैं। भारतीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये यह बैंक पांच वर्ष के भीतर अपनी १०५ शाखायें खोलेगा। इस से आशा की जाती है कि लगभग हर एक ज़िले के प्रधान नगर में एक न एक बैंक की शाखा अवश्य स्थापित हो जायगी। तीसरी बहुत ज़रूरी बात भारतवासियों के लिये बैंकिङ्ग की शिक्षा का प्रबन्ध करना है। कहा जाता है कि सेन्ट्रल बैंक इस काम को भी पूरा कर सकेगा। इस समय श्रीयुत पोखनवाला के सिवाय, जो

बम्बई के एक प्रसिद्ध बैंक के मैनेजर हैं, बहुत कम ऐसे भारतवासी हैं जिन्हें बैंकिङ्ग क्षेत्र में अपनी योग्यता दिखाने का अवसर मिला हो। पंजाब ने इस सम्बन्ध में काफी काम किया है। परन्तु यह नहीं कहा जासकता कि बैंकिङ्ग का काम यहां भलीभान्ति सिखलाने का कोई प्रबन्ध किया गया है। आवश्यकता है कि कमर्शल कालेजों में बैंकिङ्ग के मोटे सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाये और तत्पश्चात किसी बैंक में व्यावहारिक शिक्षा का प्रबन्ध किया जाये। क्या यह हम आशा कर सकते हैं कि सैंट्रल बैंक से ऊपर लिखे उद्देश्य की पूर्ति होगी?

इण्डस्ट्रियल बैंकों के सम्बन्ध में पहिले कहा जा चुका है। इन के अतिरिक्त देश की आवश्यकताओं को सन्मुख रखते हुए और कई प्रकार के बैंक स्थापित होने चाहियें। किसानों के लिये तो कहीं २ कृषिसम्बन्धी बैंक खुल रहे हैं और गवर्नमेन्ट इस काम को करने में तत्पर भी है। परन्तु प्रायः बहुत से लोगों का और विशेष कर साहुकारों का अब भी यह विचार है कि यह बैंक किसानों को तंग करने के उद्देश्य से खोले जा रहे हैं। कुछ भी हो, यह आवश्यक है कि फालतु पूंजी खर्च करने के नये उपाय बताकर महाजनों को भी इस काम में सम्मिलित कर लेना चाहिये।

यदि इन बातों का पूर्ण प्रबन्ध किया जाये, तो देश के व्यापार और उद्योगधन्दों को असीम सहायता मिलेगी और भारत भी व्यवहारिक संसार में अपना पद लेने के योग्य हो जायगा।

देश में जो इस समय कई प्रकारके बैंक काम कर रहे हैं, उनके इतिहास और वर्तमान अवस्था का संक्षेप वर्णन शिक्षाप्रद होगा। भारत में चार प्रकार के बैंक काम कर रहे हैं:—

१ देसी बैंक अर्थात सराफ़ महाजन और साहुकार। इन की हुंडियां देश भरमें करोड़ों रुपये का व्यापार चलाती हैं। ये लोग गांव २ और कस्बे २ में समय पर कर्ज़ देकर किसानों की सहायता करते हैं। इन का भारत के आर्थिक जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है।

मारवाड़ में मारवाड़ी, दक्षिण भारत में चेटी, बम्बई और गुजरात में भाटिये और पारसी और उत्तर भारत में महाजन, ये सब बैंकों का काम करते हैं।

२ दूसरे दर्जे पर मद्रास, बम्बई और कलकत्तेवाले प्रेसीडेन्सी बैंक हैं जो सब मिल कर इम्पीरियल बैंक आफ़ इण्डिया बन गये हैं। बंगाल बैंक १८०६ में खोला था, बम्बई बैंक १८४० में और मद्रास बैंक १८४३ में। ये बैंक अर्धसरकारी थे और १८७६ तक भारत सरकार खजाने का रुपया इन के पास रखती रही। परन्तु १८७६ में उन से रुपये लेने में रुकावट उपस्थित हुई। इस लिये गवर्नमेंट ने वहां रुपये रखने बन्द कर दिये। १८७६ के कानून के अनुसार इन बैंकों के काम इत्यादि पर कुछ शर्तें भी लगाई गईं और यह भी ठेका किया कि गवर्नमेन्ट इन बैंकों में कई लाख रुपये अमानत के रूप में रखा करेगी। यदि वह ऐसा न कर सके, तो उसे बैंक को हर्जाना देना होगा।

भारतीय दृष्टिकोण से ये बैंक यद्यपि अर्धसरकारी गिने जाते थे और देश का रुपया उन के खज़ाने में रखा जाता था, तिसपरं भी उन का भारतवासियों से बहुत कम लेनदेन होता था। वे केवल युरोपीयन व्यापारियों की सुविधा का ध्यान रखते थे।

३ तीसरे भाग में एक्सचेंज या विनिमय सम्बन्धी बैंक रखे जा सकते हैं, जिन के हेडआफिस तो भारत से बाहर हैं और जो भारत और दूसरे देशों में भी काम कर सकते हैं। इन में से छैः बैंकों का कार्यक्षेत्र अधिकतर भारत में ही है। अन्तर्जातीय वाणिज्य को आर्थिक सहायता देना विनिमय सम्बन्धी बैंकों का मुख्य काम है। वे भारत में रुपये लेकर विलायती हुंडी जारी कर देते हैं, जिस से बाहर से माल मंगवाने वाले अपना ऋण चुका सकते हैं। और अंगरेज़ी व्यापारियों को, जिन्हें भारत में रुपया भेजना हो, पौंड के बदले रुपया की हुंडी दे देते हैं। कुछ रुपया तो उन के पास विलायती हुंडी जारी करते समय भारतीय व्यापारियों से आ जाता है।

परन्तु यह चूंकि साधारणतया कम होता है (क्योंकि आयात व्यापार निर्यात व्यापार से कई गुणा कम है) इस लिये ये बैंक लंदन में भारतमंत्री से कौंसल बिल खरीद कर भारत में रुपये का प्रबन्ध कर सकते हैं। इन क्रयविक्रय के सौदों से उन को खूब दलाली मिलती है। शेष सब प्रकार का साहुकारे का काम भी ये बैंक करते हैं।

४ चौथे प्रकार के भारतीय संयुक्त मूलधनवाले बैंक हैं, जो गत सोलह सत्तरह वर्ष में ही स्थापित हुए हैं। १६१४-१५ में इनकी कुल संख्या ४७५ थी और कुल पूंजी लगभग ८ करोड़ रुपये। स्वदेशी आन्दोलन के साथ इन बैंकों की खूब उन्नति हुई और लोग अपना रुपया लगाने में तनिक भी न झिझके। भारतीय व्यापारियों की सुविधाओं का ध्यान रखने में इन बैंकों ने बड़ा काम किया है। परन्तु १६१३ में पीपल्स बैंक आफ़ इण्डिया के फेल होने के कारण देशभर में जो बहुत से बैंक फेल हुए उन से कई वर्षों तक स्वदेशी बैंकों को बड़ा धक्का पहुंचा है। उनके दिवालिया होने के कई एक कारण थे। बहुत से बैंकों के डाईरेक्टर बैंकों के काम से बिलकुल अनाड़ी थे और बैंकों के दावपेंच न समझने के कारण उन पर किसी प्रकार की देख रेख नहीं रख सकते थे। कई एक सट्टेबाज़ी में बैंक के रुपये का दुरुपयोग करने लगे और बाकी अपनी सफलता दिखाने के लिये, लाभ हो या न हो, अपनी पूंजी से रुपया लेकर नफा बांटते रहे। कईयों ने रुपया ऐसे कामों में लगाया हुआ था कि वह जल्दी में वापिस मिल नहीं सकता था। भारत भर में कुल ६२ बैंक फेल हुए और इन दिवालिया बैंकों का स्वीकृत मूलधन यद्यपि १० करोड़ से अधिक था परन्तु प्राप्त मूलधन केवल १ करोड़ ४६ लाख रुपये था, जोकि, देश की अवस्था को सन्मुख रखते हुए, बहुत असंतोषजनक था। उन्हीं वर्षों में कई एक धोखेबाज़ लोगों ने नाना प्रकार के फण्ड चलाकर लोगों को खूब लूटा। दिवालिया बैंकों में से कई बड़े २ प्रसिद्ध बैंक थे।

पीपल्स बैंक आफ़ इण्डिया के दिवालिया होने का किस्सा लाला हरकिशनलाल ने औद्योगिक कमीशन को सुनाया था। लाला साहब ने अपनी गवाही में कहा था कि बैंक आफ़ बंगाल या गवर्नमेन्ट यदि थोड़ी सी भी सहायता करती तो बैंक कभी फेल न होता। उन्हों ने सहायता के लिये प्रार्थना पत्र भी भेजा परन्तु कोई सुनवाई नहीं हुई। लाला साहब ने यह भी कहा था कि जब दिवालिया होने का समाचार अंगरेज़ व्यापारियों को मिला, तो लाहौर में उन्हों ने आनन्दोत्सव मनाये। तत्कालीन छोटे लाट ओडवायर साहब थे। उनकी ढीठता और जातीय घमण्ड से तो हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि उन के आनन्द मनाने की बात कोई अतिशयोक्ति न थी। बैंकों के फेल होने में भी परमात्मा का हाथ था, क्योंकि उस से सामर्थ्यहीन बैंकों का सफ़ाया होगया। यद्यपि एक दो अच्छे बैंक भी साथ बहगये, तो भी भविष्य में बैंक चलाने वालों और रुपये जमा करने वालों को शिक्षा मिलगई। गवर्नमेन्ट को भविष्य के लिये कानून बनाना पड़ा, जिससे लोगों के हित का ध्यान रखा जाये और बैंकों को गलती से बचाया जाये।

लोगों की सुविधा के लिये सरकारी सेविङ्ग बैंक भी जारी हैं। १८८२-८३ से पहले उन का काम प्रेसीडेन्सी बैंक करते थे, और जहां उन की शाखायें नहीं थीं वहां सरकारी खज़ाने। परन्तु उस वर्ष से यह काम डाकख़ाने के सपुर्द कर दिया गया, जिस से सेविङ्ग बैंक के काम में बहुत उन्नति हुई। १९११ में डाकख़ाने के सेविङ्ग बैंक में १७ करोड़ रुपये जमा थे, जिस में से १५½ करोड़ रुपये भारतीयों के थे। सेविङ्ग बैंक के रुपये को सरकार ग़ैर मियादी ऋण समझती है और काम में लाती है। १९१४ में सेविङ्ग बैंक में २४ करोड़ रुपये थे। प्रेसीडेन्सी बैंक और संयुक्त मूलधन वाले बैंकों के भी अपने २ सेविङ्ग बैंक हैं।

इम्पीरियल बैंक

योरुप के हर एक देश में एक न एक सेन्ट्रल बैंक है, जो एक ओर तो गवर्नमेन्ट के कोशाध्यक्ष का काम करता है और दूसरी ओर देशभर के बैंकों की संकट काल में सहायता। भारत में एक ऐसी संस्था की आवश्यकता चिरकाल से अनुभव की जा रही है। भारत सरकार स्वयम् कुछ ऐसे काम करती है जो अन्य देशों में इस प्रकार के बैंक करते हैं। यह हुंडीयां बेचती और ख़रीदती है; अपने ख़ज़ानों में रुपये जमा करती है, और स्वयम् ऋण लेती है और लोगों को ऋण देती है। म्युनिसिपल कमेटीयां, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और प्रान्तिक गवर्नमेन्टें इस से ऋण लेती हैं। एक ओर इस के पास रुपये बनाने की बचत का रुपया जमा है और दूसरी ओर नोटों की ज़मानत का। प्रेसीडेन्सी बैंकों द्वारा गवर्नमेन्ट अपना सम्बन्ध रुपये की मंडी से रखती तो है परन्तु यह सम्बन्ध कुछ गहरा नहीं होता, और न ही उन बैंकों पर गवर्नमेन्ट काफ़ी देख भाल रखती है।

सरकारी बैंक बनाने का प्रश्न पहिले १८६७ में उठा। उस के पश्चात किसी न किसी रूप में यह प्रश्न लोगों के सन्मुख आता रहा है। चिरकाल तक तीनों प्रेसीडेन्सी बैंक और अन्य योरुपीयन बैंक इस विचार का विरोध करते रहे कि यहां सरकारी बैंक की स्थापना की जाये। बात यह थी कि जितनी स्कीमें इस सम्बन्ध में उपस्थित की गईं, उन में से हर एक में किसी न किसी रूप में बैंकों के सौदों में हाथ डालने का प्रश्न था। और कोई स्कीम भी इन लोगों को इस बात के मूंह मांगे दाम देने को तय्यार न थी। दूसरे भारतीय लोकमत, इन प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर एक सेन्ट्रल बैंक बनाने में, उपेक्षा ही नहीं प्रत्युत विरोध करता रहा है। भारतीय व्यापारियों की यह आम शिकायत है कि ये बैंक भारतवासियों को ऋण देने में आनाकानी करते हैं। औद्योगिक कमीशन के

सन्मुख गवाही देते हुए मिस्टर हरकिशन लाल और लाला मुलकराज दोनों ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि पंजाब में १९१३ में कई बैंकों के दिवाला निकालने का यह भी कारण था कि बंगाल बैंक ने उन्हें सहायता देने से इनाकर कर दिया। प्रेसीडेन्सी बैंक के भी डाइरेक्टरों में भारतीय कम हैं। १९२० तक मद्रास बैंक का एक भी डाइरेक्टर भारतीय न था। भारतीयों को बाहर रखने के इस व्यवहार से प्रभावित होकर भारतीय लोकमत एक भिन्न सेन्ट्रल बैंक के पक्ष में रहा। १९२० तक इस प्रश्न पर कोई समझौता नहीं होसका। अन्त में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों ने मिलकर एक स्कीम तय्यार की। उसे एक बिल के रूप में मार्च १९२० में इम्पीरियल लैजिसलेटिव कौंसल में पेश किया गया। भारत सरकार ने बहुत ज़ोर डाला कि वह वैसी की वैसी कौंसल में पास होजाये, परन्तु भारतीय मेम्बरों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि जल्दी न की जाये और इस प्रश्न पर भलीभान्ति विचार हो। सितम्बर १९२० में यह बिल पास हो गया और भारतीय मेम्बर स्कीमको भारतीयदृष्टिकोण से कई अंशों में सुधारने में सफल हुए। इस बिल के पास होने पर तीनों बैंकों का अन्त हुआ और नया बैंक इम्पीरियल बैंक के नाम से उन की जगह खड़ा किया गया। बैंक के कुल २५०००० हिस्से हैं, जिन में प्रत्येक का मूल्य ५०० रुपये है। इस प्रकार बैंक की कुल पूंजी ११ करोड़ २५ लाख रुपये है और रिज़र्व फण्ड ३ करोड़ ७५ लाख रुपये। पूंजी का कुल रुपया अभीतक नहीं दिया गया। केवल आधे ही रुपये का बुलावा हुआ है। हिस्सेदार बनाते समय इन बैंकों के हिस्सेदारों के साथ अधिक रिआयत की गई और हर एक पुराने हिस्सेदार को दो नये हिस्से खरीदने की अनुमति थी। इस के अतिरिक्त नये बैंक ने पुराने बैंकों को उन की बची हुई पूंजी खरीदने पर उस का आधुनिक दाम लगाकर हर एक हिस्सेदार को उस के हिस्से के अनुसार कुछ भेंट की। बैंक का प्रबन्ध एक सैन्ट्रल बोर्ड के अधीन है। इसमें पुराने मद्रास, बंगाल

और वम्बई बैंको के डाइरेक्टरों के स्थान पर अब तीनों स्थानों पर स्थानीय बोर्ड हैं। सैन्ट्रल बोर्ड के मेम्बर १५ हैं। उन में से ६ तो स्थानीय बोर्डों के प्रधान, उपप्रधान और मंत्री हैं और ५ मेम्बर गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत हैं। इन पांच में से एक तो कन्ट्रोलर आफ करंसी है और चार भारतीय मेम्बर हैं। इस बोर्ड के अतिरिक्त बैंक के दो गवर्नर हैं, जो बैंक के दैनिक कारोबार के लिये ज़िम्मेवार हैं। इस बोर्ड का काम व्याज के दर का निर्णय, रुपयों की अदल बदल और ऊपरी देख भाल करना है। प्रत्येक सप्ताह बैंक का हिसाब किताब गज़ट में प्रकाशित करना भी इस बोर्ड का काम है। बैंक ने अब रुपये और नोट बनाने का काम छोड़ कर भारतसरकार का सब महाजनी का काम सम्भाल लिया है। सरकारी ऋण भी इसके अधीन है। इसकी एक शाखा लंदन में खोल दी गई है, जिस से इस के साथ हिसाब किताब रखने वाले को रुपये भेजने की सुविधा होगई है। इसने बैंकिंग की शिक्षा का भी प्रवन्ध किया है और हर वर्ष कुछ ऐसे आदमी भरती किये जाते हैं जो इस प्रकार की शिक्षा पाना चाहें। अब उच्चपदों पर भी भारतीय नियुक्त किये गये हैं। थोड़े दिन हुए कुछ भारतीय वम्बई शाखाओं के एजन्ट बनाये गये थे।

इतना होने पर भी यह कहना कठिन है कि बैंक इस विषय में पूर्ण प्रयत्न कर रहा है। एक वर्ष के लगभग हुआ जब बैंक ने नये कर्मचारियों के वास्ते विज्ञापन देते समय भारतवासियों और अंगरेज़ों के लिये जुदा विज्ञापन दिये थे। यह सच है कि हम ने अभी बैंकिंग में बहुत कुछ सीखना है परन्तु इस बैंक का प्रधान उद्देश्य यह काम सिखलाना है। आशा की जाती है कि भारतीय एजण्टों की भरती बैंक की नीति में एक नये युग की सूचक होगी।

भाग तीसरा

सम्पत्ति विभाग

सम्पत्ति का विभाग

हम पैदावार के साधनों के अध्याय में लिख चुके हैं कि किसी वस्तु के बनाने या पैदावार के लिये चार साधनों का होना आवश्यक है। प्रथम तो कच्चा माल, जिस से कोई वस्तु बनती हो, दूसरे श्रमजीवि या काम करने वाला कारीगर, तीसरे पूंजी, जिस से हमारा अभिप्राय औज़ार और मशीन इत्यादि है, और चौथे औद्योगिक नेता जो कि अपने मस्तिष्क में उस वस्तु के बनाने का चित्र खैंचता है और यह निर्णय करता है कि कच्चा माल कितना अपेक्षित होगा, श्रमजीवि कितने चाहियें, और मशीनों औज़ारों और कारखाना बनाने के लिये कितनी पूंजी लगेगी।

अब इन साधनों पर ध्यान देने से पता लगेगा कि पैदावार के केवल दो ही साधन हैं, कच्चा माल और श्रम। क्योंकि पूंजी अथवा मशीन इत्यादि तो कच्चे माल से श्रमजीवि बना लेते हैं और नेतृत्व करना केवल एक प्रकार का मांसिक श्रम है। वास्तव में आरम्भ में और आजकल भी उन पिछड़े हुए देशों में, अर्थात वहां जहां के निवासियों की आवश्यकतायें कम हैं, मानवी आवश्यकता को पूरा करने के लिये कुछ अधिक पूंजी और नेताओं की आवश्यकता नहीं होती। एक जंगली, अफ्रीका के जंगल में रहने वाला, प्यास लगने पर बहती हुई नदी से पानी पीलेगा और भूख लगने पर वृक्ष के फल तोड़कर खालेगा। इस प्रकार उस को किसी पूंजी की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। परन्तु यह अवस्था चिरस्थाई नहीं होती। निहथ्थे हाथों फल तोड़ने, शिकार करने और मकान बनाने में देर लगती है और काम भी अच्छा नहीं होता। इस लिये मानवीय आवश्यकतायें स्वयमेव आरम्भ में उस जंगली को सिखा देती हैं कि फल तोड़ने के पहिले वह एक पत्थर की तलाश करे।

जानवर मारने के लिये किसी नोकदार पत्थर के साथ लकड़ी का टुकड़ा लगा कर तीर कमान तय्यार करले, और पानी निकालने के लिये चमड़े का बैग बनाले । इन बातों के लिये उसे समय खर्च करना पड़ता है और अपना आराम छोड़ना पड़ता है । परन्तु इस दौड़धूप का फल पीछे काफ़ी मिल जाता है; क्योंकि जहां वह पहिले दिन भर की दौड़ धूप के पश्चात् किसी पक्षि या पशु के पकड़ने में सफल होता था अब केवल एक दो घण्टे की खोज और परिश्रम से वह कई पक्षियों और पशुओं को मार सकता है । तीर कमान इत्यादि यंत्र बनाने से उस से उस को बाकी सारे जीवन में समय की बचत हो जाती है और साथ ही वह अपनी सम्पत्ति में भी वृद्धि कर सकता है ।

इन्हीं फायदों के कारण धीरे २ संसार में जितनी भी वस्तुएं बनी हैं औज़ार और मशीनों की सहायता से बननी आरम्भ हुई । आज कल सभ्य देशों में यह आवश्यक नहीं, जैसा कि समाज की आदिम अवस्था में था, कि हर एक मुनुष्य समय लगाकर अपने हथियार स्वयम् बनाये । औज़ार बनाने के लिये भिन्न कारखाने हैं । जिस के पास रुपया हो, वह मशीनें खरीद कर काम आरम्भ कर सकता है । इस लिये व्यवहारिक संसार में आजकल जब हम पूंजी की आवश्यकता के विषय में बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि यदि रुपये पहिले इकट्ठे हों, तो काम चल सकता है । परन्तु सदा रुपये इकट्ठे करने आवश्यक नहीं, क्योंकि आजकल बैंकों, साहुकारों और सराफों के होने से यह भी सम्भव हो गया है कि एक मनुष्य, विना अपना एक पैसा खर्च किये, कारखाना खोल सकता और चला सकता है । आज कल के औद्योगिकयुग की प्रधान विशेषता यह है कि रुपया ऋण पर लेकर काम चलाया जाये । अनुमान किया गया है कि इंगलैण्ड में जो कारखाने चल रहे हैं उन में साठ प्रति सैंकड़ा रुपया ऋण पर लिया हुआ है । इस बात को सन्मुख रखते

हुए हम ने सम्पत्ति की पैदावार के चार साधन बताये हैं, और पूंजीपति और कारखाना चलाने वाले दोनों को भिन्न साधन लिखा है। ६० या ७० वर्ष हुए संसार में यह अवस्था नहीं थी और भारत में तो अबतक यह नहीं है। उस समय पूंजीपति और औद्योगिक नेता एक ही मनुष्य होता था। संयुक्त मूलधन की कम्पनियों और बैंकों के प्रचालित होने से यह सम्भव होगया है कि यदि एक योग्य आदमी किसी धन्दे को चलाकर उसे सफल करने का निश्चय बैंकर को करादे, तो उसको रुपया उचित ब्याज पर मिल सकता है।

इसी प्रकार पहिले साधन के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि उस के महत्व में परिवर्तन आगया है। करखाना खोलने के लिये यह आवश्यक नहीं कि ज़मीन उसकी अपनी हो, कच्चा माल अपनी भूमि से निकाले या पैदा करे। सब सामग्री किराये पर या ठेके पर ली जा सकती है। इस से दो लाभ होते हैं—एक तो ज़िमींदार और खान के स्वामी को घर बैठे एक नियत रकम वार्षिक मिल जाती है। और उसकी सम्पति व्यर्थ नहीं जाती, यदि उसका वह स्वयम् प्रबन्ध नहीं कर सकता। दूसरे जिसके पास व्यवसायिक योग्यता और अनुभव है, वह थोड़े से रुपयों के बदले में, खान या जमीन का इस्तेमाल करके, अपना काम चला सकता है। इस से न केवल दोनों को लाभ होता है प्रत्युत समाज को भी, क्योंकि प्राकृतिक पदार्थों का सदुपयोग होकर सम्पत्ति में वृद्धि होती है। यहां यह बात भी स्मरणीय है कि भारत में, विशेषकर कृषि में, यह प्रथा अभी नहीं चली कि ज़िमींदार और किसान दो भिन्न मनुष्य हों। योरुप में और विशेषकर इंगलैण्ड में, ज़िमींदार अपनी ज़मीन कुछ वर्षों के लिये ठेकेदार को दे देता है और उससे किराया वसूल करता है। और ठेकेदार अपने मज़दूर लगाकर खेती करवाता है।

श्रम के विषय में भी यह देखा जाता है कि वर्तमान औद्योगिक युग में श्रमज़ीवियों का वह दर्जा नहीं जो पहिले था। जब उद्योगधन्दों घरेलु थे, उस समय वह स्वयमेव अपना औद्योगिक नेता और श्रमजीवि था। हानि लाभ का वह ज़िम्मेवार था और वस्तुओं के सस्ते और मंहगे होने का तत्कालिक प्रभाव तुरन्त उस पर पड़ता था। परन्तु यदि उससे पहिले समय की ओर जायें, तो पता लगेगा कि उस समय भूमिपति, पूंजीपति, श्रमजीवि और औद्योगिक नेता, इन चारों का काम एक ही मनुष्य करता था। भारतीय कृषि में आज तक यह बात देखने में आती है कि ज़िमींदार हल और कुंआ अपने खर्च पर बनवाता है, बीज स्वयम् बोता है और आप परिश्रम करता है और परिवार से करवाता है। अर्थात् वह स्वयम् अपना पूंजीपति, श्रमजीवि और औद्योगिक नेता है।

औद्योगिक परिवर्तन ने सौ डेढ़ सौ वर्ष में व्यवसायिक संसार की काया पलट दी है। आज कल जहां भूमिपति पूंजीपति हैं, और औद्योगिक नेता भिन्न व्यक्ति, वहां श्रमजीवि भी भिन्न मनुष्य है, जिस का सम्बन्ध केवल इस बात से है कि नियत समय काम कर के नियत मज़दूरी लेकर अपना पेट भरले। कारखाने के स्वामित्व से उस का कोई सम्बन्ध नहीं। इस से मज़दूर को यह लाभ हुआ है कि वह कारखाने या काम के दायित्व से मुक्त हो गया है। नियत घण्टों में परिश्रम किया और बस छुट्टी। चीज़ विके या न विके, हानि हो या लाभ, इन बातों से उस को कोई वास्ता नहीं। मनुष्य का स्वभाव भी यही चाहता है। बहुत थोड़े ऐसे मनुष्य होंगे जो अपने आप को चिन्ताग्रस्त करना चाहते हों। अज्ञात परिणामों को भोगने का दायित्व बहुत कम लोग उठाने को तय्यार होते हैं। यही कारण है कि योग्य आदमी सरकारी भी निजी नौकरीयां कम वेतन पर भी करने को तय्यार हो जाते हैं जब कि वे कदाचत् व्यापार में अधिक कमा सकते हों। वास्तवमें वस्तु का

बनाना और उस को बेचना, ये दोनों भिन्न क्रियायें हैं और दोनों के लिये समाज को योग्य मनुष्य मिलने चाहियें। पुराने व्यवसाय के ढंग में अर्थात् घरेलु औद्योगिक प्रणाली में ये दोनों काम एक ही मनुष्य को विवश हो कर करने पड़ते थे, जिस से कदाचित् दोनों काम भलीभान्ति नहीं हो सकते थे। आधुनिक फैक्टरी सिस्टम में ये दोनों काम भिन्न २ लोग करते हैं। आज कल भी भारत में पुरानी प्रणाली बहुत हद तक प्रचलित है परन्तु इस का जीवित रहना कठिन है जब तक कि सहयोग पद्धति से इस प्रकार के माल को बेचने का प्रबन्ध नहीं किया जाता। जिस जुलाहे को एक दो दरी या खेस बना कर चार पांच दिन बाज़ार में उठाकर घूमना पड़े, उस को क्या आर्थिक लाभ पहुंच सकता है, इस का स्वयं आप अनुमान कर सकते हैं। वह कपड़ा बुनते समय भी काम में मन नहीं लगा सकता, क्योंकि उसे चिन्ता लगी रहती है कि कदाचित् वह बिक सके या न या दाम कम मिलें। श्रमजीवि को कारखाने या काम के दायित्व से छुटकारा मिल गया है वहां उस की समाज में पदवी भी कम हो गई है। अब वह धन उत्पन्न करने वाली मशीन का एक पुर्ज़ा ही है। जैसे और हज़ारों पुर्ज़े मिल सकते हैं, वैसे वह भी सामान्यतः कारखानादार, उस को एक जीवित मनुष्य नहीं समझता। अंगरेज़ी में मज़दूरों को हाथ कहा जाता है। वास्तव में उसी दृष्टि से हम उन को देखते हैं और कईबार भूल जाते हैं कि उन में आत्माभिमान है और उन को भूख और प्यास भी लगती है। चूंकि परावलम्बी श्रमजीवियों की संख्या अधिक है, इस लिये किसी एक को नौकरी से हटाने में कोई संकोच नहीं किया जाता।

हमारा अभिप्राय यहां वर्तमान और प्राचीन प्रणाली में कोई तुलना करना नहीं। हम केवल यह बात नोट कराना चाहते हैं कि वर्तमान व्यवसायिक संसार में श्रमजीवियों की पदवी और काम वह नहीं जो पहिले था।

हमने पैदावार के चारों साधन पर सरसरी दृष्टि दौड़ाई है। हमारा अभिप्राय ऐसा करने का पाठकों को उन का महत्त्व और पारस्परिक सम्बन्ध समझाना था।

ऊपर लिखे वर्णन से यह स्पष्ट है कि वर्तमान प्रणाली में औद्योगिक नेता एक केन्द्र का काम करता है। वह अपने मन में किसी वस्तु को बनाने का निश्चय करता है, उस की उपलब्धि और मांग का अध्ययन करता है और अपने मस्तिष्क में उस वस्तु का एक पूर्ण चित्र तय्यार करता है। और फिर पुंजीपति से जिस के पास रुपया तो है परन्तु व्यवहारिक योग्यता नहीं वह रुपया ऋण पर ले लेता है। उस रुपये से वह कारखाना बनाता है; मशीन और औज़ार खरीदता है और श्रमजीवियों को नौकर रखता है। इसी प्रकार ज़मीन का किराया देने का भी वह दायित्व लेता है और काम आरम्भ कर देता है। अपनी कुल आय में जो कुछ वह व्याज वेतन और किराया दे कर, बचाता है वह उस का मुनाफा है, जिस का कोई निश्चित परिणाम नहीं हो सकता। सम्भव है उस को कुछ लाभ न हो। यह भी सम्भव है कि वह हज़ारों लाखों रुपया कुछ ही दिनों में कमा ले। यह मुनाफा इस बात का प्रति फल है कि वह बाकी सब की अपेक्षा अधिक जोखम में पड़ता है। सम्पत्ति के विभाग में सामान्यतः औद्योगिक नेता का भाग अधिक होता है। संसार में नौकर या बादशाह भी, जो आजकल सभ्य संसार में वतने भोगी प्रधान ही हैं, इतने धनी नहीं होते जितने कि व्यापारी और व्यवसायी। अमेरीका के अर्बपति कारखानों के स्वामी संसार के मुकुटधारी राजाओं को अपने यहां उन के वर्तमान वेतन देकर, नौकर रख सकते हैं।

हमने पूंजीपति और औद्योगिक नेताओं में भेद किया है और उनको पैदावार के दो भिन्न साधन बना दिया है, क्योंकि आजकल सामान्यतः ऐसा ही देखा जाता है। परन्तु प्राचीन प्रणाली भी बहुत हद तक साथ ही साथ प्रचलित है, जहां कि

पूंजीपति ही कारखाना चलाने वाला होता है। ऐसा मानने से हमारे सम्पत्ति विभाग के सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं होता, क्योंकि ख़ालिस मुनाफे का अनुमान करने में हर एक व्यवसायी इस बात की गणना कर लेता है कि अपने निज के लगाये हुए रुपये पर उसे कितना सूद मिलेगा यदि उसे वह किसी उद्योग-धन्दे या व्यापार में न लगाये। इस प्रकार अन्तर केवल यही हुआ कि सूद और लाभ बजाय दो मनुष्यों के पास जाने के एक ही के पास जाता है। संयुक्त मूलधन वाली कम्पनियों के प्रचलित होने से भी इस सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता, क्योंकि पूंजी और काम जिस कम्पनी के हाथ में है उसे हम एक व्यक्ति समझ सकते हैं। पूंजी छोटी २ रकमों में हिस्सेदारों से वसूल की गयी है और प्रबन्ध भी डाइरेक्टरों के हाथ में है, जिनको कम्पनी के वेतनभोगी प्रतिनिधि समझा जा सकता है। इसी तरह जो मुनाफा बांटा जाता है उस में रुपये का सूद और काम चलाने का खालिस लाभ दोनों सम्मिलित हैं।

सम्पत्ति विभाग पर सरसरी दृष्टि दौड़ाने के पश्चात हम मज़दूरी ब्याज, किराये और मुनाफे पर एक २ करके विचार करेंगे। और उन पर विचार करते हुए भारतीय अवस्थाओं को भी ध्यान में रखेंगे।

मज़दूरी

मज़दूरी के निर्ख पर विचार करने से पहिले हम श्रमजीवियों को दो भागों में बांट सकते हैं (१) अशिक्षित श्रमजीवि जो अपने शारीरिक बल द्वारा या व्यक्तिगत सेवाओं से रोटी कमाते हैं और (२) निपुण श्रमजीवि। हर एक देश में बहुत बड़ी संख्या पहिली श्रेणी के श्रमजीवियों की होती है। मांग और उपलब्धि का नियम जिस प्रकार चीज़ों के दाम को निर्धारित करता है उसी तरह श्रमजीवियों के वेतन या मज़दूरी को भी। परन्तु बाज़ार में बिकनेवाली वस्तुओं और श्रम में यह अन्तर है कि वस्तुएं विक्रेता से भिन्न की जा सकती हैं, किन्तु श्रम नहीं।

इस अन्तर का यह परिणाम निकलता है कि किसी स्थान पर यदि मज़दूरी महंगी भी हो, तब भी सम्भव हो सकता है कि आस पास के श्रमजीवि वहां आकर श्रम की उपलब्धि को न बढ़ायें। क्योंकि ऐसा तभी हो सकता है जब वे अपना घरबार छोड़कर और आत्मत्याग करके उस स्थान पर जाने को तय्यार हों। परन्तु यह देखा जाता है कि मानवप्रकृति एक दम ऐसा करने को तय्यार नहीं होजाती। मेज़ यदि किसी नगर में महंगे बिक रहे हों, तो दूसरे नगरों से तुरन्त बहुत से मेज़ भेजे जायेंगे जिससे वे सस्ते होकर अपनी पुरानी कीमत पर आजायेंगे। परन्तु श्रमजीवियों को स्थानान्तर ले जाना इतना आसान काम नहीं होता। दूसरा अन्तर यह है कि दूसरी सब सांसारिक वस्तुओं की अपेक्षा श्रम शीघ्र नाश होने वाली वस्तु है। हरएक मिनट जिसमें कोई श्रमजीवि निकम्मा रहता है, उसके लिये व्यर्थ जाता है और फिर लौट नहीं सकता। इस लिये वह सर्वदा यत्नवान रहता है कि जिस दाम पर भी हो, वह अपने श्रम को बेच दे। मेज़ बेचनेवाले की तरह वह अपने श्रम को एकत्रित

नहीं कर सकता, जिस से उसे ठीक दाम मिल सकें। और जब हम यह देखते हैं कि हर एक देश में श्रमजीवि वर्ग दूसरे वर्गों से दरिद्र हैं, तो यह बात आसानी से समझ में आसकती है कि क्यों ये लोग बहुत थोड़ा वेतन लेने पर प्रायः बाध्य होजाते हैं जब कि थोड़ा हठ करने से वह पूरा निर्वाह ले सकते हैं।

यदि हम इन दो एक बातों को ध्यान में रखें और उन का श्रम की उपलब्धि पर जो प्रभाव पड़ता है उसे भी सन्मुख रखें, तो सामान्यतः हम यह कह सकते हैं कि मालिक की श्रम की मांग इस बात पर निर्भर है कि श्रमजीवि उस के लिये कितने पैसों की पैदावार कर सकते हैं। दृष्टान्त के लिये कोई बढ़ई एक श्रमजीवि को अपने अधीन काम पर नौकर रखता है और उसे एक रुपया दैनिक मज़दूरी देता है। श्रमजीवि के रखने से उसकी आय दो रुपये हो जाती है; क्योंकि कई एक आवश्यक काम जो पहिले श्रमजीवि के अभाव से न हो सकते थे अब पूरे किये जा सकते हैं। इस से स्पष्ट है कि बढ़ई की इच्छा श्रमजीवि को नौकर रखने की होती है, क्योंकि उससे उस को मुनाफा होता है। मान लीजिये दूसरा आदमी रखने से डेढ़ रुपया और तीसरा रखने से केवल एक रुपया उसकी आय में वृद्धि होती है (आय में कमी होनी अनिवार्य भी है क्योंकि उसने पूंजी नहीं बढ़ाई और सब आवश्यक काम पहिले श्रमजीवि ने कर दिया है) इस का परिणाम यह होगा कि बढ़ई तीन से अधिक श्रमजीवि नौकर नहीं रखेगा, क्योंकि अन्तिम श्रमजीवि जितना स्वामी को कमा कर देता है, उतना ही वह वेतन के रूप में ले लेता है। उस को रखने से उस को हानि नहीं और न रखने से उस को संतोष नहीं होता। इस प्रकार के श्रमजीवि को अर्थशास्त्र में सीमान्त श्रमजीवि कहते हैं, क्योंकि उस के श्रम से जो पैदावार होती है, वह उस की मज़दूरी के बराबर होती है। जब पूंजीपति को इस सीमा का ज्ञान हो जाता है, अर्थात

जब उसे यह पता लग जाता है कि प्रत्येक मज़दूर से उस को जो आय होती है वह लागत के बराबर है, तब वह श्रमजीवियों की मांग को वहीं पर परिमित कर देता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि श्रमजीवियों की मांग का निर्धारक सीमान्त श्रमजीवि होता है। कारखानेदार इस नियम पर गणित के नियमों की तरह, आचरण नहीं करता प्रत्युत अनुभव और निरीक्षण के पश्चात वह स्वयमेव उसे जान जाता है। इस उदाहरण से एक और बात भी स्पष्ट होती है। वह यह है कि वास्तव में श्रमजीवि का वेतन उस के काम पर अवलम्बित है। इस लिये यदि श्रमजीवि अधिक उपयोगी हो, तो उस का वेतन बढ़ सकता है। उस के वेतन के रूप में वही मिलेगा जो वह कारखाने इत्यादि के लिये पैदा करेगा। यही कारण है कि योरुप और अमेरीका में श्रमजीवियों के वेतन बहुत ज़्यादा होते हैं और भारत में बहुत कम। भारत में श्रमजीवियों में कार्यक्षमता बहुत कम होती है।

श्रमजीवियों की उपलब्धि देश की जनसंख्या पर अवलम्बित है, इस बात का वर्णन हम और कहीं कर आये हैं। यदि देश की जन संख्या कम हो, जैसा की केनेडा आस्ट्रेलिया और अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों में है, श्रमजीवियों के कम होने से मज़दूरी का निर्ख बढ़ जायेगा। यदि किसी कारण से जनसंख्या सघन है और काम और नौकरीयां प्राप्त करने के लिये मज़दूरों की ओर से मुकाबला बहुत है, तो वेतन कम हो जायेंगे। इस प्रकार श्रमजीवियों की उपलब्धि का जनसंख्या की न्यूनाधिकता से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

रिकार्डो का, जो अर्थशास्त्र के जन्मदाताओं में से एक है, मत है कि श्रमजीवियों की प्रारब्ध में निर्वाह मात्र ही लिखा है। क्योंकि उस की सम्मति में यदि मज़दूरी मांग के कारण थोड़े समय के लिये बढ़ भी जाये, तो उस की वृद्धि स्थायी नहीं हो सकती। उस के मतानुसार इतिहास और अनुभव बताता है कि

समृद्धि की अवस्था में श्रमजीवि अधिक संतान उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार जनसंख्या बढ़ जाती है और मज़दूरों का, कुछ समय के पश्चात, परस्पर मुकाबला आरम्भ हो जाता है, जिस से मज़दूरी का निर्ख फिर गिर कर अपनी पुरानी अवस्था पर आजाता है। इस विचार में कुछ सच्चाई अवश्य है और पिछड़े हुए देशों पर अब भी यह बात घट सकती है। परन्तु यह नियम अपवाद रहित नहीं। मज़दूरी की वृद्धि का एक तो वह परिणाम हो सकता है जिस का रिकार्डों ने वर्णन किया है, अर्थात जनसंख्या का बढ़ जाना। परन्तु ऐसा होना ज़रूरी नहीं। कई बार ऐसा भी होता है कि श्रमजीवि-वर्ग अपनी रहन सहन की परिपाटी को ऊंचा करके अपनी कार्य-क्षमता को बढ़ाते हैं, जिस से अनावश्यक जनसंख्या की वृद्धि रुक जाती है। इस कथन की अनुभव भी पुष्टि करता है। योरुप के कई देशों के गत पच्चास वर्ष के इतिहास से यह बात विदित होती है कि श्रमजीवियों के रहन सहन की परिपाटी और मज़दूरी में कई गुना उन्नति हुई है। भारतीय श्रमजीविवर्ग के सन्मुख भी दरिद्रता से निकलने का यही उपाय है कि वह अपने रहन सहन की परिपाटी को ऊंचा करे।

श्रम की मांग और उपलब्धि पर यहां हम ने संक्षेप से विचार किया है। इस से स्पष्ट है कि किसी पेशे या समुदाय के लिये औसत मज़दूरी इन दोनों के साम्य से निर्धारित होती है। कई श्रमजीवि अपनी योग्यता और परिश्रम से औसत से अधिक प्राप्त कर लेते हैं, और कई अपनी मूर्खता और अज्ञानता से औसत दर्जे से कम। भारतीय श्रमजीविवर्ग अशिक्षित है और उस में संगठन नाम-मात्र का नहीं। कूपमण्डूकता का स्वभाव तो उस ने इतना अपना लिया है कि एक स्थान पर यद्यपि मांग अधिक है और वेतन भी पर्याप्त मिल सकता है, तिस पर भी श्रमजीवि बाहर से वहां जाना नहीं चाहते। एक स्थान पर श्रमजीवियों की कमी है और दूसरे पर वे आवश्यकता से अधिक पाये जाते हैं। परन्तु मांग न होने से वे कम वेतन

लेने पर बाध्य हो जाते हैं। अब ये दोनों अवस्थायें संतोषजनक नहीं। इस का मूलकारण भारतीय श्रमजीवियों में स्थानान्तर गमन के स्वभाव का अभाव है। विद्या और संगठन के न होने से भारतीय श्रमजीवि औसत मज़दूरी से प्रायः कम लेने पर तय्यार हो जाता है। एक और बात जो भारतीय मज़दूरी के सम्बन्ध में स्मरणीय है वह यह है कि देश के हर एक भाग में मज़दूरी के निर्णय करने में मुकाबले का सिद्धान्त काम नहीं देता। देहात में, और विशेषकर नगरों से दूरवर्ती देहात में, रीतिरिवाज का बहुत ज़ोर है। श्रमजीवियों को वही मज़दूरी मिलती है जो बापदादा के समय से चली आती है। इस लिये मज़दूरी सम्बन्धी सिद्धान्त, जिस का आधार मुकाबले पर है, भारत में सर्वत्र लागु नहीं हो सकता। बड़े २ शहरों, कस्बों और उन स्थानों के अतिरिक्त जहां आवजाव के साधन सुलभ होगये हैं देश में अब भी कई हिस्से बाकी हैं जहां रीति रिवाज से मज़दूरी निर्धारित होती है।

हमने श्रमजीविवर्ग को दो भागों में बांटा है। मांग और उपलब्धि का साम्य ही दोनों की मज़दूरी निर्धारित करता है। परन्तु निपुण श्रमजीवियों की उपलब्धि में केवल रहन सहन की परिपाटी उन की संख्या को परिमित नहीं करती प्रत्युत शिक्षा और व्यवसाय सीखने का खर्च भी। मान लीजिये समाज को १०० वैद्यों की आवश्यकता है और १०० विद्यार्थी ही वैद्यक की शिक्षा पारहे हैं। अब वैद्य बनने के लिये उन को अपने जीवन के कई वर्ष और बहुत सा धन खर्च करना पड़ेगा। ये वर्ष और खर्च सब के लिये एक जैसा नहीं होगा। योग्य मनुष्य थोड़े खर्च से शिक्षा प्राप्त कर लेगा और मूर्ख को अधिक खर्च करना पड़ेगा। अब यदि समाज को १०० वैद्यों की आवश्यकता है तो मूर्ख से मूर्ख को भी उसे नौकर रखना होगा और उस को वह वेतन देना होगा जो उसकी शिक्षा के खर्च को, जो उसने किया है, पूरा करदे। उसके बिना समाज का निर्वाह नहीं होसकता। यह बात वकील, इनजी-

नियर, अध्यापक, लोहार, बढ़ई इत्यादि सब धन्दों के निपुण श्रमजीवियों पर समान रूप से लागु है। यदि वकीलों की संख्या के बढ़ जाने से और उन में मुकाबला आरम्भ होने से उनकी आय में कमी होजाये, यहां तक कि ऐसे वकील जिन का आय व्यय बराबर है, इतना भी न कमा सके जितना उनको वकील बनने के लिये खर्च करना पड़ा है, तो कुछ वर्षों में वकीलों की संख्या घट जायेगी और उन की आय फिर बढ़ने लगेगी। उन की आय उस सीमा तक बढ़ेगी जिस तक अयोग्य से अयोग्य मनुष्य के वकील बनने का खर्च पूरा होसके।



व्याज का दर

ऋण पर व्याज लेने देने की प्रथा बहुत प्राचीन है, यद्यपि यह बात भी उल्लेखनीय है कि सूदखोरी पुराने यहूदियों, युनानियों और योरुप के देशों में १८वीं सदी तक कभी भी धर्मानुकूल नहीं समझी गई। उसे विधेय समझना तो एक ओर रहा, हर एक देश में सूदखोरी के विरुद्ध नियम पास किये गये, जिन के अनुसार सूद लेना पाप ठहराया गया। केवल हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों में आरम्भ से व्याज पर रुपया पैसा देना एक साधारण बात समझी गई है, यद्यपि उन में भी यह बन्धन लगाया गया कि व्याज मूलधन से दुगना कभी न होने पावे इत्यादि। पुराने यहूदियों में यह प्रथा थी कि हर सातवें वर्ष छुट्टी होती थी, अर्थात् किसी मनुष्य ने चाहे कितना ही व्याज और ऋण देना हो उसे उस वर्ष सूद और ऋण दोनों से मुक्त किया जाता था। मुसलमान आरम्भ से व्याज पर रुपया देने के विरोधी रहे। इस से यह बात स्पष्ट होती है कि साधारणतयः हर मत और हर देश में व्याज लेने के विरुद्ध कई सौ वर्ष तक भाव रहा। इस का परिणाम यह निकला कि सूदख़ोरी के विरुद्ध बहुत कठोर नियम पास किये गये। परन्तु अकिंचन लोगों को ऋण लेना ही पड़ता है और साहूकार को क्या आवश्यकता पड़ी है कि वे बिना व्याज के किसी को ऋण देते फिरें। इस कारण यद्यपि हर देश में सूदखोरी के विरुद्ध नियम पास किये गये, परन्तु सूद लेने देने की प्रथा कहीं भी कम न हुई। व्याज का इतिहास पढ़ने से पता लगता है कि कैसे २ विचित्र ढंग सोचे गये हैं, जिस से सूद लेने देने की प्रथा भी प्रचलित रहे और क़ानून के पंजे में भी न पड़ना पड़े।

परन्तु प्रश्न यह है कि जैसे और किसी व्यापार की मनाही नहीं की गई, तो व्याज लेने के विरुद्ध हर धर्म और देश में इतना

आन्दोलन क्यों हुआ है? इस का उत्तर युनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने इस प्रकार दिया है । यदि एक मनुष्य दूसरे को अनाज या गाय बकरी उधार दे, तो उस को मूल से कुछ अधिक मिलना चाहिये, क्योंकि गेहूं एक सेर बोने से कई सेर पैदा हो सकता है । इसी प्रकार एक गाय और बकरी से दो गाय और कई बकरीयां बन सकती हैं । गेहूं और गाय के परिमाण और संख्या में स्वभाविक वृद्धि हो सकती है । परन्तु यदि वही मनुष्य दूसरे को सौ रुपये नकद् उधार दे, तो सौ रुपये का बढ़ाव नहीं हो सकता । सुकरात के शब्दों में उन की सन्तति नहीं हो सकती । इस लिये रुपये के लेन-देन में उसके स्वामी को रुपये के रूप में कोई प्रति फल नहीं मिलना चाहिये । यह युक्ति कितनी ही मनोरंजक क्यों न हो, वास्तव में उसे युक्ति नहीं कहा जा सकता । रुपये को एक भिन्न वस्तु समझने में सुकरात ने ग़लती की है । रुपया केवल विनिमय का साधन है और संसार के अन्य सब वस्तुओं का, जो उस से ख़रीदी जा सकती हैं, प्रतिनिधि स्वरूप है । सौ रुपये से हमारा अभिप्राय सौ रुपये नहीं होता परन्तु वे चीज़ें (गौ बकरी गेहूं इत्यादि) होती हैं जो उतने रुपये से ख़रीदी जा सकती हैं ।

वास्तव में बात यह है कि व्याज का प्रश्न आजकल उस रूप में हमारे सन्मुख नहीं जिस में वह गत कुछ सदियों में था । औद्योगिक परिवर्तन ने संसार के धनोपार्जन करने के ढंग में तबदीली उत्पन्न कर दी है । प्राचीन काल में व्यवसाय की घरेलु पद्धति प्रचलित थी । श्रमजीवि अपने घर में बालबच्चों और पत्नी की सहायता से चीज़ें बनाकर बाज़ार में बेच आता था । मशीन का रिवाज नहीं था । सीधे साधे औज़ार, जो सस्ते दामों मिल सकते थे, उस की पुंजि होते थे । ऋण लेने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी । परन्तु आजकल कारख़ाना पद्धति के प्रचलित होने से मनुष्य के लिये अकेले ही कारख़ाना खोलना, मशीनें ख़रीदनीं और व्यवसाय चलाना बहुत कठिन हो गया है । इस सब

काम के लिये पूंजी ऋण पर लेने की आवश्यकता पड़ती है, जिस पर, व्याज देने के पश्चात, एक ख़ास रकम उस को मुनाफ़े के रूप में मिलती है। आजकल रुपया उधार लेना उसे किसी उपयोगी काम में लगाना है। इस लिये उस पर सूद देना कोई बोझ नहीं। परन्तु प्राचीन काल में व्यवसाय चलाने के लिये ऋण विरले ही लिया जाता था। दरिद्र और निर्धन लोग घर के काम चलाने के लिये अड़ोसी पड़ोसियों से ऋण लेने पर विवश हो जाते थे, जिस पर व्याज लेना अपने पड़ोसी की विपत्ति से लाभ उठाना समझा जाता था। यही कारण था कि इतने सौ वर्ष तक बहुत से देशों में सूद लेना बुरा समझा गया।

व्याज क्यों देना चाहिये? यह किस का प्रतिफल है? इन प्रश्नों पर बहुत विचार किया गया है। व्याज देने के पक्ष में एक यह युक्ति दी जाती है कि ऋण लेने वाला उस को उपयोग में लाकर अधिक रुपये कमा सकता है। सौ रुपये से वह एक सौ पच्चीस रुपये बना सकता है। इस लिये अधिक आय में से कुछ रुपये उसे प्रतिफल के रूप में साहुकार को देने चाहियें। ऐसा करने से उसकी कुछ हानि नहीं होती, क्योंकि उसको यदि रुपया उधार न मिले तो वह कुछ भी न कमा सकेगा। साहुकार को भी लाभ होता है, क्योंकि घर बैठे ही वह कुछ न कुछ कमा लेता है। उसको व्यवसाय चलाने का ढंग तो आता नहीं और यदि वह उधार न दे, तो रुपया उसके पास निष्प्रयोजन पड़ा रहेगा। अतएव ऋण लेनेवाले और देनेवाले दोनों को लाभ होता है और समाज की भी भलाई होती है। क्योंकि पूंजी का सदुपयोग होने से धन में वृद्धि होती है।

परन्तु यदि व्याज देना इस लिये उचित है कि उधार लेने वाला उस को उपयोग में लाकर उससे लाभ उठा सकता है तो क्या यह ज़रूरी नहीं कि यदि ऋण के उपयोग से उस को हानि पहुंचे, तो वह ब्याज न दे या उलटा उसका प्रतिफल मांगे? वास्तव में

ब्याज तो ___ लिये देना उचित है कि रुपया जमा करने वाले को अपना वर्तमान खर्च घटा २ कर रुपया इकट्ठा करना पड़ता है, ताकि वह भविष्य में उसे खर्च कर सके। आधुनिक सांसारिक सुखों से उसे परहेज़ करना पड़ता है, ताकि बचत की सहायता से वह अपने भावी जीवन को सुखमय बना सके। यह मानी हुई बात है कि हाथ में आधी रोटी भविष्य की पूरी रोटी से अच्छी है या जैसी कि कहावत है कि नौ नकद, न तेरह उधार। कोई नहीं जानता कि भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है। सम्भव है रुपया जमा करनेवाले की आय में इतनी वृद्धि होजाये कि एकत्रित रुपये की उसे आवश्यकता ही न पड़े। तब उस को व्यर्थ ही खेद होगा कि पिछले वर्षों में वह अपना पेटकाट रुपया जमा करता रहा। सम्भव है चीज़ें वस्तुएं मंहगी हो जायें और उसको खेद हो कि जब सब कुछ सस्ता था तब मौजें क्यों न उड़ाईं। यह भी सम्भव है कि उसकी अकाल मृत्यु हो जाये। इन कारणों से यह मानव स्वभाव है कि लोग आज की कल की अपेक्षा अधिक परवाह करते हैं। इस लिये एक मनुष्य जब वर्तमान खर्च को कम करके रुपया बचाकर दूसरे को ऋण देता है तो उसको केवल मूलधन ही वापस नहीं मिलना चाहिये परन्तु ब्याज के रूप में कुछ प्रतिफल भी।

पूंजी की उपलब्धि पर विचार करते हुए लोगों की रुपया जमा करने की इच्छा और सामर्थ्य दोनों पर ध्यान देना चाहिये। कंजूसों मक्खीचूसों को छोड़ कर कुछ लोग इस लिये रुपया बचाते हैं कि वे वृद्धावस्था में अशक्य होने पर अपना निर्वाह कर सकें। दूसरे आकास्मिक संकट को टालने के लिये रुपये एकत्रित करते हैं। और कई ऐसे भी हैं जिन्हें संतान के पालपोषण, शिक्षा और विवाह का विचार धन संग्रह की ओर प्रेरित करता है।

रुपये जमा करने की सामर्थ्य उन में ही हो सकती है जिनके पास पहिले बचा हुआ रुपया है या जिन की आय काफ़ी है। यह बात भी हम स्पष्ट करना चाहते हैं कि रुपया जमा करने वालों में

एक समुदाय ऐसा है, जो चाहे ब्याज कितना ही क्यों न हो, रुपया जमा कर लेगा। और रुपये को सुरक्षित रखने के लिये उसे उधार देने में हिचकिचायेगा। शान्ति समय में ऐसे लोगों की संख्या कम होती है। जनसाधारण इस लिये रुपया बचाते हैं कि उस से उन को ब्याज मिले। यदि ब्याज का दर बढ़जाये, तो अधिक बचायेंगे और यदि गिर जाये तो कम। इस लिये प्रायः देखा जाता है कि जब कभी ब्याज का दर देश में बढ़गया है लोगों ने रुपया अधिक बचाना आरम्भ कर दिया है।

समाज में ब्याज का दर वह होगा जिस पर लोग उतना ही रुपया बचायें जितने की मांग है। हम इस कथन को नीचे लिखे कोष्ठ से स्पष्ट कर सकते हैं:—

ब्याज का दर	रुपये की वार्षिक उपलब्धि	रुपये की वार्षिक मांग
०	१५ लाख	१०० लाख
१	२० ,,	७० ,,
२	४० ,,	६० ,,
३	५० ,,	५० ,,
४	५५ ,,	४५ ,,
५	६० ,,	४० ,,

उदाहरण के लिये यदि एक देश या समाज की स्थिति ऊपर दिये गये कोष्ठ के अनुसार हो, तो ब्याज का दर तीन रुपये सैंकड़ा वार्षिक होगा, क्योंकि मांग और उपलब्धि उस निर्ख पर बराबर हैं। ब्याज यदि चार रुपये प्रतिसैंकड़ा हो जाये तो बचत तो ५५ लाख रुपया होगी परन्तु लोग केवल ४५ लाख रुपये उधार लेने को तय्यार होंगे। और ब्याज यदि दो रुपये प्रति सैंकड़ा हो जाये, तो चूंकि दर कम है लोग ६० लाख तक लेने को तय्यार हो जायेंगे। कई रुपया बचाने वाले इस कम दर पर रुपया देने को तय्यार नहीं। इस लिये उपलब्धि केवल

४० लाख रुपये की होगी । दोनों अवस्थाओं में मुक़ाबला आरम्भ हो जायगा—पहिली अवस्था में रुपया बचानेवालों की ओर से और दूसरी में रुपया मांगनेवालों की तरफ से। केवल तीन रुपये प्रति सैंकड़ा दर ऐसा है जहां उपलब्धि और मांग का साम्य है। इस लिये उस समाज में तीन रुपये प्रति सैंकड़ा पर व्याज निश्चित हो जायेगा।

यह व्याज का दर खालिस व्याज का दर होगा, जिस का उदाहरण किसी देश में सरकारी ऋणों से ज्ञात होता है। साहुकार बैंक या दूसरे लोग, जो रुपये का लेनदेन करते हैं, प्रायः इस व्याज के दर से अधिक लेते हैं क्योंकि वे उस में हिसाब-किताब रखने का कष्ट, रुपया वापिस मांगने और फिर लगाने और उसको जोखम में डालने का प्रतिफल भी सम्मिलित कर लेते हैं।



मुनाफ़ा

सम्पत्ति विभाग में तीसरा हिस्सेदार कारखाना चलानेवाला है। वर्तमान औद्योगिक संगठन में उस का पद दूसरे सब साधनों से ऊंचा है। वही रुपया उधार लेता है और नियत व्याज देने का दायित्व भी उसी पर है। श्रमजीवियों का वेतन भी उसे देना पड़ता है। कच्चा माल भी वही खरीदता है और जब वह कुल आय में से बाक़ी के हिस्सेदारों को उन का नियत भाग दे चुकता है, तो बची हुई रक़म उस के अपने परिश्रम का प्रतिफल होती है। इस रक़म को मुनाफ़ा कहते हैं, जो कि वास्तव में जोखम उठाने का फल है। परन्तु व्याज के दर की तरह यहां भी कारखानेवाले अपना मुनाफ़ा खालिस मुनाफ़े से कई गुना बढ़ा लेता है। मंडी की अवस्थाओं से पूर्ण परिचय के कारण खरीदार को धोखा देकर, और श्रमजीवि और अन्य पैदावार के साधनों को उन के वास्तविक दाम से कम देकर या परस्पर मेल करके और परस्पर एकाधिकार की स्थापना करके कारखाना चलानेवाले अपना लाभ बहुत बढ़ा लेते हैं। यही कारण है कि यद्यपि धनोपार्जन में चार साधन हैं और कुल आय इन चारों में बटती है परन्तु एक साधन, अर्थात कारखानेवाला, इस सम्पत्ति विभाग में सब से बड़ा भाग ले जाता है। और श्रमजीवियों की अवस्था सब से अधिक शोचनीय हो जाती है, क्योंकि उन को सब से कम भाग मिलता है।

किराया

हम पहिले लिख चुके हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से, और अच्छी प्रकार अध्ययन करने से भी यह स्पष्ट होता है कि धनोपार्जन करने में वास्तव में दो ही वस्तुएं आवश्यक हैं—श्रम और प्रकृति का दिया हुआ कच्चा माल। श्रम पर हम विचार कर चुके हैं। प्राकृतिक वस्तुओं में कृषिउपयोगी भूमि, खनिज पदार्थ, झरने, नौगम्य नदियां इत्यादि सब अन्तर्गत हैं। परन्तु जिन से हमें अधिक सम्बन्ध पड़ता है वे उपजाऊ भूमि और खानें हैं। उनके विषय में एक दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहिली बात तो यह है कि ज़मीन, खानें और अन्य प्राकृतिक पदार्थ जो मनुष्य के लिये उपयोगी होने के अतिरिक्त आर्थिक पदार्थ भी हैं वे मांग की अपेक्षा बहुत परिमित हैं और प्रकृति की ओर से हमें कम परिमाण में दिये गये हैं। कपड़ा, शीशा इत्यादि पदार्थों की उपलब्धि भी परिमित है, किन्तु उनके परिमाण में इच्छानुसार वृद्धि की जा सकती है। परन्तु किसी देश की भूमि और खानें नहीं बढ़ाई जा सकतीं। कपड़ा यदि एक मनुष्य के पास है तो कोई कारण नहीं कि वह दूसरे के पास न हो। मांग के बढ़ जाने से उसकी उपलब्धि बढ़ाई जा सकती है। परन्तु भूमि का क्षेत्रफल परिमित है। जनसंख्या या मांग चाहे कितनी ही बढ़ जाये, उसके क्षेत्रफल में वृद्धि नहीं हो सकती। इस लिये यदि एक मनुष्य भूमि के कुछ एकड़ों पर अपना अधिकार जमा लेता है तो दूसरा सदा के लिये उनसे वंचित होजाता है। जब एक वार किसान ज़मीन परस्पर बांटलें, तो ग़ैर किसान और उन की संतान सदा के लिये कभी भूमिपति नहीं बन सकतीं। इस बात को लेकर साम्यवादी लोगों की यह मांग है कि भूमि राष्ट्रीय सम्पत्ति होनी चाहिये।

दूसरी बात ज़मीन के सम्बन्ध में यह है कि एक एकड़ ज़मीन दूसरे एकड़ से उपजाऊपन और स्थिति की दृष्टि से भिन्न है। कोई दो एकड़ बिलकुल समान नहीं हो सकते। ज़मीन के कोई दो टुकड़े ऐसे न होंगे जिन में खेती तो की जाती हो परन्तु उन की उपज से केवल उस का खर्च ही निकलता हो। इस लिये कम उपजाऊ ज़मीन के किसानों का अच्छी उपजाऊ भूमि के किसानों के साथ मुक़ाबला आरम्भ हो जायेगा। इस का परिणाम यह होगा कि उपजाऊ भूमि के किसान, इस की अपेक्षा कि वे ज़मीन का अधिकार छोड़ दें, यह चाहेंगे कि भूमिपति को अपनी बचत में से किराये के रूप में कुछ दे दें। इस किराये का परिमाण क्या होगा और जनसंख्या के बढ़ने से उस में वृद्धि होगी या कमी. इस सब विचार को किराये का सिद्धान्त कहते हैं, जिस पर हम ने इस अध्याय में लिखना है।

ज़मीन के सम्बन्ध में तीसरी बात स्मरणीय यह है कि एक एकड़ ज़मीन से यह सम्भव नहीं हो सकता कि ज्यों २ उस पर परिश्रम और पूंजि खर्च की जाये त्यों २ उसी अनुपात से उस की उपज में वृद्धि होती जाये। उदाहरण के लिये यदि दो वार हल चलाने और एक मन खाद डालने से १० मन गेहूं पैदा हो सकता है, तो चार वार हल चलाने और दो मन खाद डालने से, गेहूं दुगना नहीं पैदा होगा, प्रत्युत उस से कम, अर्थात १५ मन के लगभग। और यदि हल आठ वार चलाया जाये और खाद चार मन डाली जाये, तो गेहूं ४० मन के बदले शायद केवल २० मन ही पैदा हो। यदि इसी प्रकार प्रयोग किया जाये, तो एक अवस्था ऐसी आयेगी जब पैदावार बढ़नी बन्द हो जायेगी। परिश्रम और पूंजी के अनुपात से भूमि की उपज नहीं बढ़ती, इस बात को हर एक समझदार किसान जानता है। दूसरे शब्दों में एक एकड़ ज़मीन पर श्रम और पूंजी का अधिक खर्च करना और अधिक पैदा करने का प्रयत्न करना मंहगा पड़ता है। यदि ऐसा न

होता, तो जनसंख्या की वृद्धि के साथ यह आवश्यक न होता कि अधिक क्षेत्रफल में खेती की जाये। जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात से एक ही एकड़ भूमि पर अधिक पूंजी और श्रम खर्च किया जाता और जितने गेहूं की आवश्यकता होती उतना पैदा किया जाता।

खेती और खानों को छोड़ कर दूसरे व्यवसायों में यह देखा जाता है कि जिस प्रमाण से पूंजी, श्रम और कच्चे माल में वृद्धि की जाती है, उपज भी उसी प्रमाण से बढ़ती हैं। अर्थात् यदि पूंजी और श्रम इत्यादि दुगने किये जायें, तो कारखाने की उपज सम्भव है तीन गुना बढ़ जाये। हर अवस्था में उपज दुगनी से अधिक हो जायेगी (यदि और कोई परिवर्तन न हो)। इस नियम को उत्पत्ति की क्रमागत वृद्धि का नियम कहते हैं। खेती में इस से बिलकुल उलटी बात होती है। जैसा कि हमने लिखा है वहां हमें उत्पत्ति के क्रमागत ह्रास के नियम से सम्बन्ध होता है। यह क़ानून खानों पर भी लागु है। घटाव का क़ानून नगरों के मकानों पर उसी प्रकार से लागु है जैसे कृषिसम्बन्धी भूमि पर। मकान को ऊंचा लेजाना कुछ सीमा तक तो लाभकारी हैं। परन्तु एक सीमा ऐसी आजाती है जिस से ऊंचा लेजाना पूंजी और श्रम की अपेक्षा मंहगा पड़ता है। यहांतक कि अन्तिम सीमा ऐसी आजाती है जहां सरासर हानि होती है। यदि ऐसा न होता, तो नगरों की बढ़ती हुई जनसंख्या एक ही मकान में समा जाती। उनका विस्तार न होता और नई भूमिपर मकान न बनाये जाते।

कृषि उपयोगी और शहरी भूमियों की गणना किराये की दृष्टि से एक ही कोटि में है। यदि अन्तर है तो यह कि जहां कृषि सम्बन्धी भूमि में उपजाऊपन पर अधिक ध्यान दिया जाता है, वहां शहरी ज़मीन में स्थिति अधिक ध्यान देने योग्य है। एक अच्छी स्थितिवाले मकान के लिये मकानवालों और किरायेदारों में मुक़ाबला आरम्भ हो जायेगा। और परिणाम वही होगा जो कृषिसम्बन्धी भूमि में किसानों के परस्पर मुक़ाबले से हुआ। मालिक

मकान अपने आसामी से किराया लेना आरम्भ कर देगा। किराये का नियम शहरी और देहाती दोनों प्रकार की भूमियों के लिये समान-रूप से लागु है। इस लिये हम जो कुछ कृषि उपयोगी भूमि के विषय में लिखेंगे उस का सम्बन्ध शहरी ज़मीन से भी होगा।

दृष्टान्त के लिये किसी देश की कुल कृषिउपयोगी भूमि, उपजाऊपन के लिहाज़ से, चार भागों में बांटी जा सकती है--क, ख, ग, घ। 'क' को सब से अच्छा भाग समझिये और 'घ' को सब से निकृष्ट। उत्पत्ति के क्रमागत ह्रास के नियम से यह स्पष्ट है कि एक ही एकड़ पर पूंजी और श्रम की मात्रा बढ़ाने से उसकी उपज घटती जायगी। नीचे दिया हुआ नक़शा इस बात को भलीभान्ति स्पष्ट करता है।

क	ख
२० मन	१९ मन
१९ ,,	१८ ,,
१८ ,,	१७ ,,
१७ ,,	१६ ,,
ग	**घ**
१८ मन	१७ मन
१७ ,,	

(इस नक़शे में हमें यह मान लेना चाहिये कि ज़मीन के मालिक और किसान दो भिन्न व्यक्ति हैं)।

अब यदि जनसंख्या कम हो और 'क' भूमि के कुछ भाग की खेती से सब के लिये अनाज पैदा हो जाये, तो 'क' के थोड़े से भाग में खेती होगी, शेष खाली रहेगा। और चूंकि 'क' की सब भूमि, जैसाकि हम ने मान लिया है; समानरूप से उपजाऊ है, इस लिये किसान कुछ भी रक़म भूमिपति को न देगा। दूसरे भूमि-

पति जिन की भूमि खाली पड़ी है, बहुत प्रसन्न होंगे यदि किसान पुराने मालिकों की ज़मीनें छोड़ कर उन की ज़मीन पर खेती करना आरम्भ करदें। यदि जनसंख्या के बढ़ने से 'क' की सारी भूमि पर खेती होनी आरम्भ हो जाये और तिस पर भी जनसंख्या का निर्वाह न हो, तो कई किसान 'ख' भाग में चले जायेंगे। 'क' में रहनेवाले किसान 'क' में अधिक श्रम और पूंजी लगाना आरम्भ कर देंगे। इस का यह परिणाम निकलेगा कि 'ख' भाग के किसानों को शीघ्र पता लग जायेगा कि श्रम और पूंजी का दोनों टुकड़ों से एक जैसा फल नहीं मिलता। इस लिये उन में परस्पर मुक़ाबला आरम्भ हो जायेगा। 'ख' वाले प्रयत्न करेंगे कि उन को 'क' भाग में ज़मीन मिल जाये। इस मुक़ाबले का परिणाम यह होगा कि 'क' भाग के स्वामी अपनी आसामियों से किराया लेना आरम्भ कर देंगे। या ऐसा समझिये कि वहां के किसान स्वयमेव किराया देना आरम्भ कर देंगे, ताकि उन से ज़मीन का अधिकार छीन कर 'ख' भाग के किसानों को न दिया जाये। इस प्रकार जब जनसंख्या की वृद्धि से 'ग' भाग में भी खेती होने लगेगी, तो 'ख' और 'ग' के अन्तर से 'ख' भाग पर भी किसानों को किराया देना पड़ेगा। और 'क' का किराया बढ़ जायेगा, क्योंकि 'ग' के किसान 'क' 'ख' से मुकाबला आरम्भ कर देंगे। इसी प्रकार 'ग' भाग में खेती होने के पश्चात 'घ' भाग में खेती होने लगेगी और 'ग' पर किसानों को किराया देना पड़ेगा। किराया कितना होगा, इस का उत्तर यह है कि किराया क, ख, ग, पर इतना होगा कि इस के देने के पश्चात क, ख, ग, के किसानों की अवस्था आय की दृष्टि से समान रहे।

इस किराये के नियम की व्याख्या पहिले रिकार्डो ने की। इससे कुछ एक बातें सिद्ध होती हैं। (१) जनसंख्या के बढ़ने से निकम्मी से निकम्मी भूमि पर खेती करनी पड़ती है और इस से किराया बढ़ जाता है। (२) किराये का परिमाण अच्छी और निकम्मी भूमि की पैदावार में जो अन्तर है उस पर अवलम्बित

है। (३) निकम्मी भूमि की खेती उस समय होती है जब जनसंख्या के बढ़ने से अनाज की मांग बढ़ जाती है और उसके दाम तेज़ होजाते हैं। अनाज की मंहगी ही किसानों को इस बात के लिये प्रेरित करती है कि वे निकम्मी ज़मीन को भी जोतें, जहां से उनको यद्यपि मुनाफ़ा नहीं परन्तु खर्च कम से कम निकल जाता है। क, ख, ग की ज़मीनों की खेती से जो खालिस बचत या लाभ होता है वह किसान मुक़ाबला करके भूमिपति को किराये के रूप में दे देते हैं। इस लिये किराया एक फ़ालतु आमदनी है जो कि अनाज पैदा करने के खर्च के अतिरिक्त है। इस कारण चाहे यह फ़ालतु आमदनी भूमिपति के पास रहे या किसान के पास, इस का अनाज के दाम पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। इसी बात को लेकर अर्थ-शास्त्र में कहा गया है कि "किराये का दामों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता"। दुकानदारों का यह कहना कि वे अधिक दाम लेने में विवश हैं क्योंकि वे किसी अच्छी स्थिति की दुकान के लिये किराया अधिक देते हैं निर्मूल है। वे किराया इस लिये अधिक देते हैं कि उस स्थान पर उन की बिक्री अधिक होती है और मुनाफ़ा भी मिलता है। यदि किराये की अधिकता ही मंहगा बेचने का ठीक कारण होती, तो गांव में बेचनेवाला दुकानदार, जो किराया नाम मात्र को देता है, वस्तुएं मंहगी न बेचता। दाम का निर्धारण कई बातों पर निर्भर है। उन का वर्णन हम किसी और प्रसंग में कर चुके हैं। किराया केवल किसान और भूमिपति में परस्पर फालतु आय का बांटना है, इसका अनाज के दाम पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

किराये के ऊपर लिखे नियम को पढ़ कर यह सन्देह होता है कि कदाचित् यह भारत पर लागु न हो क्योंकि यहां भूमिपति किसानों की संख्या ख़ासी होने से उन में कृषि उपयोगी ज़मीन के लिये बहुत मुक़ाबला नहीं हो सकता। इशारे के तौर पर इस सम्बन्ध में हम पहिले लिख चुके हैं। किराया, खर्च निकाल कर,

फालतु आमदनी का नाम है, जो प्राकृतिक रूप से परिमित वस्तुओं से भूमिपति या मकानदार को होती है। चाहे यह किराया भूमि-पति के पास जाये या किसान के पास, इस के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि यह आवश्यक नहीं कि पहिले सर्वोत्तम भूमि पर खेती की जाये। उप-जाऊ भूमि का कदाचित पीछे पता लगे। इस आक्षेप के उत्तर में यह कहा जाता है कि आरम्भ में किसानों का कुछ एकड़ भूमि पर हल चलाना और आस पास की भूमि छोड़ देना ही इस बात को स्पष्ट करता है कि उनके विचार और उन की तत्कालीन सामग्री और अवस्था के अनुसार वे एकड़ दूसरे एकड़ों से अधिक उप-जाऊ थे। हमारा किराये का नियम समयविशेष की स्थिति को सन्मुख रखकर बनाया गया है। इस में क्रमानुसार ऐतिहासिक विकास का वर्णन नहीं।

ज़मीन पर मालगुज़ारी व बन्दोबस्त

भारत की जनसंख्या का अधिकांश भाग देहातों में रहता है और आर्थिक अवस्था ऐसी है कि २/३ खेती पर निर्वाह करते हैं। खेती भारत का राष्ट्रीय धन्दा है, जिस की उन्नति से लाखों की उन्नति का सम्बन्ध है। यद्यपि प्रकृति ने भारत को कृषिप्रधान देश बनाया है, तिस पर भी उस को कृषिसम्बन्धी उन्नति करने में कई अड़चनों का सामना करना पड़ता है। बंगाल, आसाम और बर्मा को छोड़ कर बाकी सब प्रान्तों का जीवित रहना वर्षा पर निर्भर है। यदि वह कम हो या असमय पर हो, तो देश भर में अकाल पड़ जाता है। इस बात पर हम पीछे लिख आये हैं। इस अध्याय में हम देश के राज्यप्रबन्ध की दृष्टि से भारतीय कृषि और भूमि पर जो प्रश्न उठते हैं, उन पर विचार करेंगे। भारत में भूमि की स्वामिनी गवर्नमेंट है या कि किसान लोग ? लगान एक टैक्स है या किराया ? और यह सदा के लिये निश्चित होना चाहिये या कुछ वर्षों के लिये ? इस प्रकार के कुछ प्रश्न हैं जिन पर हमें विचार करना है।

परन्तु इन बातों पर विचार करने से पहिले विविध प्रान्तों में ज़मीन के स्वामित्व और खेती के सम्बन्ध में जो नाना प्रकार की प्रणालियां प्रचलित हैं, उन पर विचार करना आवश्यक है।

मद्रास, बम्बई, आसाम और बर्मा में ज़मीन स्वयम् खेती करनेवाले किसानों की सम्पत्ति है। उन का लगान देने में सीधा सम्बन्ध गवर्नमेंट के साथ है। ज़मीन को बेचने या रहन रखने में गवर्नमेंट की आज्ञा नहीं लेनी पड़ती। किसान हर प्रकार से स्वतन्त्र भूमिपति हैं। इस रिवाज को रैय्यतवारी प्रणाली कहते हैं।

उत्तरभारत (बंगाल, संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश और पंजाब) में ज़िम्मींदारी प्रथा प्रचलित है। लगान ज़िम्मींदारों पर लगाया जाता है और वही उसके देने के ज़िम्मेवार हैं। परन्तु यद्यपि ज़िम्मींदार जो सरकारी लगान देता है, ज़मीन का स्वामी होता है, ज़मीन की खेती मौरुसी या ग़ैर मौरुसी किसान ही करता है। इस प्रकार ज़िम्मींदारी प्रणाली में तीन दल हो जाते हैं—सब से नीचे खेती करनेवाला किसान जिस की हैसियत एक श्रमजीवि की सी है, उस के ऊपर ज़िमींदार जो भूमिपति और सरकारी लगान देने का ज़िम्मेवार है, और सरकार जो ज़मीन से लगान लेती है। पंजाब और आगरा के कुछ इलाक़ों में ज़िमींदारी प्रणाली कुछ परिवर्तित अवस्था में पाई जाती है। जैसे आगरा और पंजाब के कई ग्रामों में सारे गांव के लिये सरकारी लगान की एक ही रक़म स्थिर कर दी जाती है। ज़मीन के स्वामी, अपनी ज़मीन के अनुसार, लगान का अपना हिस्सा निश्चित करके उस रकम को नम्बरदार के द्वारा गवर्नमेन्ट को दे देते हैं।

गांव का स्वामित्व भी उनका संयुक्त होता है। वे पट्टीदारी के सिद्धान्त पर ज़मीन परस्पर बांट कर खेती करते हैं। आगरे में इस प्रणाली को महलवारी और पंजाब में पट्टीदारी कहते हैं। ज़िमींदारी और रैय्यतवारी के अन्तर का इस प्रकार से वर्णन किया जाता है कि ज़िम्मींदारी में ज़मीन का स्वामी स्वतन्त्र कृषक होता है और रैय्यतवारी में मौरूसी किसान होने से उसका पूरा स्वामी है। ज़मीन को बेचने या रहन रखने का उसे पूर्ण अधिकार है। अब सरकार की ओर से कहा जाता है कि भूमिपति सरकार है, क्योंकि हिन्दुओं और मुसलमानों के शासनकाल में भी ज़मीन पर उसका स्वामित्व था। ज़िमींदार केवल लगान वसूल करने के एजण्ट थे और हैं। भारतसरकार किसानों के लिये कई एक ऐसे काम करती है जो अन्य देशों में केवल भूमिपति करता है, अर्थात् रुपये उधार देना, कूंए खुदवाना, पानी के निकास व रोकथाम का प्रबन्ध करना,

और अन्य कई प्रकार की सहायता देना। सरकार के इस दावे पर कि असली भूमिपति वही है कौंसल में कई बार बहस हुई है और अनेक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। यदि यह बात मानली जाये तो भारत के छोटे बड़े सब ज़िमींदारों का दर्जा एक किसान जैसा होजाता है। परन्तु इस में सच्चाई तनिक भी नहीं। पहिले तो गवर्नमेन्ट के इस दावे का खण्डन भारतमंत्री व दूसरे सरकारी कर्मचारियों की ओर से ही कईवार किया गया है। १८५९, १८६५ व १८७५ में सरकारी कामों के लिये ज़मीन को बाध्यरूप से छीन लेने के जो क़ानून सरकार को बनाने पड़े हैं उन से स्पष्ट है कि सरकार अपने आप को ज़मीन की स्वामिनी नहीं समझती। यदि वह स्वामिनी होती तो ज़मीन को खाली करवाने के लिये नये क़ानून न बनाती। केवल नोटिस देने से ही काम चल जाता।

तीसरे ज़मीन बेचने या रहन रखने का अधिकार स्वामी के सिवाय और किसी में नहीं होता। किरायेदार किराये पर दिये हुए मकान को नहीं बेच सकता। इस लिये रैय्यतवारी या ज़िमींदारी प्रणाली के अनुसार भारत के ज़िमींदार ही भूमिपति हैं, क्यों कि ज़मीन बेचने, रहन रखने या विरासत में देने का उनको पूर्ण अधिकार है। प्रणाली चाहे ज़िमींदारी हो या रैय्यतवारी, सरकारी लगान दो प्रकार से स्थिर होता है—पक्की तौर पर अथवा बीस या तीस वर्ष के लिये। बंगाल का पक्का बन्दोबस्त १७९३ में किया गया और वहां के ज़िमींदारों का लगान सदा के लिये स्थिर हो गया। १७९५ में और १८०२ में ज़िला बनारस और मद्रास के उत्तरी इलाक़ों में भी पक्का बन्दोबस्त किया गया। इस समय बंगाल के ५/६ भाग में, आसाम के १/८, संयुक्तप्रान्त के १/१० और मद्रास के १/४ भाग में अथवा देशभर के १/५ हिस्से में ज़मीन का लगान सदा के लिये निश्चित है, जो कि घटाया बढ़ाया नहीं जा सकता। १७९२ में जब लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल में ऐसा बन्दोबस्त किया, तो सारे बंगाल के ज़िमींदारों की आय ४ करोड़ के रुपये के लगभग थी

जिस में से ३ करोड़ ६० लाख रुपये सरकार ने अपना भाग निश्चित किया, जो कि उस समय बहुत अधिक और अन्यायपूर्ण था। परन्तु उनके सौभाग्य से और सरकार के दुर्दैव से अब यह अवस्था है कि बंगाल के ज़िमींदारों की आय का अनुमान इस समय १६ करोड़ रुपये वार्षिक से कुछ अधिक है, जिस में से सरकार का भाग केवल ३ करोड़ ६० लाख ही है।

पक्का बन्दोबस्त करने में लार्ड कार्नवालिस के मन में कई एक विचार थे। सब से महत्वशाली कारण ऐसा करने का राजनीतिक था। उन का विश्वास था कि ऐसा करने से वे बंगाल के सब ज़िमींदारों, अमीरों और साधनसम्पन्न लोगों को अंगरेज़ी राज्य से अपनी ओर आकर्षित कर लेंगे। इस में सरकार को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है और बंगाल के ज़िमींदार उस समय से लेकर आजतक उसके हितेच्छु बने हुए हैं। दूसरा विचार यह था कि कच्चे बन्दोबस्त से जो कष्ट व खर्च हैं वह कम हो जायेगा और लोगों के पास कुछ रुपया बच रहेगा, जिससे वे अकाल आदि विपदाओं को आसानी से टाल सकेंगे। तीसरा विचार यह था कि लगान के घटने बढ़ने के झमेलों से बचकर ज़िमींदार कृषिसम्बन्धी उन्नति की ओर अधिक ध्यान देंगे, क्योंकि ऐसा करने से सारा लाभ उन्हीं को होगा। लार्ड कार्नवालिस का यह भी विचार था कि पक्का बन्दोबस्त करने से एक निश्चित रक़म खजाने में आती रहेगी, जिस से सरकार अपनी ओर से निश्चिन्त हो जायेगी। आज कल सरकारी कर्मचारियों और दूसरे ऐंगलोइन्डियन लोगों की तरफ से कहा जाता है कि जिस बातों को ध्यान में रखकर लार्ड कार्नवालिस ने पक्का बन्दोबस्त किया था वे सब व्यर्थ गई हैं, क्योंकि बहुत कम ज़मींदारों ने लगान की इस रिआयत का खेतों को उन्नत करने में फायदा नहीं उठाया है। वे तो अपनी ज़मीन वर्षों तक भूल कर भी नहीं देखते परन्तु कलकत्ते इत्यादि स्थानों पर रह कर आनन्द करते हैं। सरकार ने तो अपना भाग निश्चित कर

दिया है परन्तु ज़िमींदार किसानों से अधिक से अधिक रुपये लेने की सदा ताक में रहते हैं। सरकार को पक्का बन्दोबस्त करने में बहुत घाटा रहा है। यदि लोगों को स्वराज्य मिल जाये, तो यह बन्दोबस्त अवश्य ही हटा दिया जायेगा, क्योंकि बाकी प्रान्तों में उन को इस लिये लगान और टैक्स अधिक देने पड़ते हैं ताकि सरकारी खज़ाने में घाटा पूरा किया जा सके।

अब इन बातों पर विचार किया जाय तो पता लगेगा कि इन में सच्चाई बहुत थोड़ी है। बंगाल व दूसरे प्रान्तों के ज़िमींदार आनन्द मनाते और गांव से अनुपस्थित रहते हैं परन्तु इंगलैण्ड में भी तो लार्ड ऐसा ही करते हैं। उन पर टैक्स क्यों नहीं बढ़ा दिया जाता? और जहां कच्चा बदोबस्त है क्या वहां के ज़िमींदार देवता स्वरूप और ग्रामवासी हैं? पक्के बन्दोबस्त के विरुद्ध इस से अधिक लचर युक्ति नहीं हो सकती।

दूसरे किसानों से अधिक भाग लेने का अधिकार भी १८५५ के लगान के क़ानून के अनुसार सरकार ने ज़िमींदारों से छीन लिया है। हमारी सम्मति तो यह है कि बाकी प्रान्तों में भी कच्चा बन्दोबस्त हटाकर पक्का बन्दोबस्त कर दिया जाये। क्योंकि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में भूमि पर इतना भारी लगान लगाना, और फिर इस लगान को हर बीस या तीस वर्ष के पश्चात बढ़ाते जाना, बहुत ही हानिकारक है। बात तो वास्तव में यह है कि यद्यपि बंगाल की ज़मीन से आय ४ करोड़ रुपये से १६ करोड़ रुपये तक बढ़गई है परन्तु सरकार का भाग इतना ही रहा है जितना कि १७९३ में था अर्थात ३ करोड़ ६० लाख रुपये। एक लालची सरकार के लिये इतनी भारी आय को ज़िमींदारों और किसानों में बटते हुए चुप चाप देखना बहुत विस्मयजनक प्रतीत होता है। इस लिये लालच में पड़कर पक्के बन्दोबस्त को दूर करने के लिये झूठे बहाने ढूंढे जाते हैं।

यह भी बात स्मरणीय है कि लार्ड कैनिङ्ग, लारेन्स व रिपन आदि ने सारे भारत का पक्का बन्दोबस्त करने के लिये बहुत ज़ोर लगाया परन्तु सफलता न हुई। पक्का बन्दोबस्त तो कहां करना था, लम्बा बन्दोबस्त भी सरकार ने स्वीकृत न किया। बन्दोबस्त का समय तीस से पच्चास वर्ष कर देने के लिये कौंसल में फरवरी १९१४ में विचार हुआ। नित्य नये बन्दोबस्त से होने वाले खर्च, दुःख और टण्टे का उसमें पक्के बन्दोबस्त के पक्षपातियों ने खूब वर्णन किया। परन्तु सरकार की ओर से यह उत्तर दिया गया कि बीस और तीस वर्ष की अवधि देश में एक परम्परा बन गई है और आजकल बन्दोबस्त करने में समय भी थोड़ा लगता है अर्थात् दो से चार वर्ष तक। इसके अतिरिक्त गत पच्चास वर्षों में सरकार की आय ज़मीन के लगान से २० लाख रुपये वार्षिक के हिसाब से बढ़ी है। इस लिये लम्बा बन्दोबस्त करने से सरकार को घाटा रहेगा।

इस प्रसंग को छोड़ने से पहिले हम एक और बात पर भी कुछ कहना चाहते हैं। सरकार की ओर से कहा जाता है कि क्योंकि भूमिपति सरकार है, इस लिये भूमि का लगान जो यह लेती है वह केवल भूमि का किराया है जो कि गृहपति या भूमिपति अपने किरायेदार से लेने का अधिकारी है। हम पहिले दिखा चुके हैं कि सरकार किसी अवस्था में भी भूमिपति नहीं। इस लिये लगान वैसा ही टैक्स है जैसा कि दूसरी वस्तुओं पर या वार्षिक आय पर लगाया जाता है। यदि यह दूसरा मत ठीक हो, जैसा कि यह है, तो इस से हम एक दो परिणामों पर पहुंचते हैं। (१) इन-कम टैक्स के समान ज़मीन से लगान में भी दो हज़ार या उस से कुछ कम आय पर कोई टैक्स नहीं लगना चाहिये। और यदि टैक्स लगाना ही हो, तो जिस ज़िमींदार के पास थोड़ी ज़मीन है, जिस से उस का निर्वाह भी कठिनता से होता हो, उस पर लगान का निर्ख कम होना चाहिये। आजकल लगान ज़मीन की खालिस

आय का ५० या ६० प्रतिसैंकड़ा है। इस प्रसंग में यह बात विचारनीय है कि इतना टेक्स संसार के किसी देश में भी किसी व्यवसाय पर नहीं लगाया जाता। (२) इसी प्रकार हमें यह स्वत्व मांगने का पूर्ण अधिकार है कि जिस प्रकार प्रत्येक सभ्य देश में (और भारत में भी अन्य टेक्सों के विषय में) यह प्रथा है कि नया टेक्स लगाने में या पुराने टेक्स को बढ़ाने में कानूनी कौंसल की अनुमति लेनी पड़ती है, उसी तरह यह प्रथा ज़मीन के लगान के विषय में भी प्रचलित होनी चाहिये। सब से अच्छी बात यह है कि ज़मीन पर लगान सदा के लिये निश्चित हो जाना चाहिये। यदि यह नहीं किया जा सकता, तो वर्तमान बन्दोबस्त के अफसरों और उन के विभाग को अन्तिम नमस्कार करना चाहिये। जब कभी गवर्नमेंट के मतानुसार ज़मीन पर लगान बढ़ाने की आवश्यकता हो, तो यह बात बजट के साथ कानूनी कौंसल के सन्मुख उसे रखनी चाहिये, ताकि जनता को और ज़िमींदारों को उस पर पूर्ण विचार करने का अवसर मिले।

हम इस पक्ष की पुष्टि में पार्लेमेन्ट की संयुक्त कमेटी की रिपोर्ट में से एक उद्धरण देते हैं।

"कमेटी इन आक्षेपों को बहुत सार पूर्ण समझती है जो कि इस बात के सम्बन्ध में किये गये हैं कि कुछ टेक्स गवर्नमेण्ट बिना किसी कानून के पास करने के ही लोगों पर लगा सकती है और उन को व्यवस्थापक सभा कुछ सीमा तक ही बढ़ा घटा सकती है। ज़मीन के लगान सम्बन्धी मौलिक कानून भिन्न २ प्रान्तों में भिन्न २ हैं। परन्तु कुछ प्रान्तों में लगान के निर्ख का घटाना बढ़ाना सर्वथा गवर्नमेन्ट के हाथ में है। जो लोग यह टेक्स देते हैं, उन को इस सारी प्रणाली को बदलने में कोई पूछ नहीं। जो नियम लगान के सम्बंध में बनाये गये हैं, वे कुछ स्पष्ट नहीं और वे लोग जो ज़मीन पर लगान देते हैं वे उन नियमों को बिलकुल नहीं समझते।

इस दोष को दूर करने के लिये कमेटी ने एक सिफ़ारश की है कि लगान के लिये, वन्दोबस्त की मियाद, ज़मीन की पैदावार का अनुमान लगाने और ऐसी ही अन्य बातों के सम्बन्ध में जितने नियम हैं उन सब को शीघ्र ही सरकारी कानूनी का रूप दे दिया जाये, ताकि लोगों को मालूम हो जाये किन सिद्धान्तों पर सब कार्यवाई की जाती है।

१६२१-२२ में कुल रकम जो ज़मीन के लगान से गवर्नमेन्ट को मिली वह ३५½ करोड़ रुपये थी, जो कि भारत सरकार की कुल आय का लग भग १८ प्रति सैकड़ा थी। बाकी किसी भी विभाग से सरकार को इतनी आय नहीं हुई जितनी ज़मीन के लगान से। और यहां यह कहना अप्रसांगित न होगा कि भारतीय किसान और ज़िमींदार सरकारी आय का दक्षिण भुजा हैं। इस परिस्थित में क्या यह मांग उचित न होगी कि सरकार को हर प्रकार से किसानों और ज़िमींदारों के हित का चिन्तन करना चाहिये। और हर एक उपयोगी प्रस्ताव पर उसे आचरण करना चाहिये जिस से वे स्वावलम्बी बन कर अपना निर्वाह भलीभाति कर सकें।

हम इस जगह एक और प्रथा के विषय में लिखना भी उचित समझते हैं, जिस के प्रचलित होने से किसानों को लाभ हो सकता है और जिस से सरकार को भी बचत और नफा हो सकता है। इस प्रथा को विलायत में फ्री होल्ड सिस्टम कहते हैं। अर्थात् भूमिपति इस के अनुसार बीस या तीस साल का लगान एकदम या एक दो किश्तों में सरकार को देदेता है। और तदनन्तर सदा के लिये वह लगान देने की ज़िम्मेवारी से मुक्त होजाता है। उदाहरण के लिये यदि औसत लगान प्रति एकड़ पांच रुपये वार्षिक हो, और भूमिपति प्रति एकड़ सौ रुपये एक दो किश्तों में सरकार को देदे जो कि बीस वर्ष के ज़मीन के लगान के बराबर हों, तो उस से दोनों पक्षों को लाभ होगा। सरकार को एक तो लगान के सौ रुपये शीघ्र मिल जायेंगे और दूसरे फिर २ लगान इकट्ठा करने

का खर्च उसे बच रहेगा। भूमिपति भी इस काफ़ी लगान से भविष्य के लिये निश्चिन्त हो जायेगा। यह प्रथा बंगाल और दूसरे ज़िलों में, जहां कि बन्दोबस्त पक्का है, बड़ी सरलता से प्रचलित की जा सकती है। परन्तु इस के लिये यह आवश्यक होगा कि ज़िमींदारों की एक ख़ासी संख्या इस को कार्यरूप में परिणत करने को तय्यार हो। हमारा यह मत है कि यदि इस प्रथा के लाभ ज़िमींदारों को भली भान्ति समझाये जायें, तो वे इसको मान जायेंगे।



साम्यवाद

सम्पत्ति विभाग के प्रसंग को छोड़ने से पहिले हम उस आन्दोलन का भी संक्षिप्त वर्णन करना चाहते हैं जिस की नींव औद्योगिक युग के आरम्भ के साथ २ पड़ी और जो विविध अवस्थाओं से गुज़रता हुआ आज योरुप और अमेरीका के सब देशों में ज़ोर पकड़ गया है। इस आन्दोलन को अंगरेज़ी में सोशलिज़म कहते हैं। और यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इस आन्दोलन का प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से जो प्रभाव संसार, और विशेषकर योरुप और अमेरीका के, विचारों और भावों पर पड़ा है उस का अनुमान करना कठिन है। मांसिक क्षेत्र में कोई ही ऐसा विभाग होगा जो इस के प्रभाव से बचा रहा हो। आज-कल श्रमजीविवर्ग के लिये समाज में जो सहानुभूति पाई जाती है वह तो प्रत्यक्ष रूप से साम्यवादियों के आन्दोलन का ही परिणाम है।

साम्यवाद एक आर्थिक और राजनीतिक आन्दोलन है। साम्यवादी समाज की नींव एक नये ढंग पर रखना चाहते हैं। उन की इच्छा एक नया औद्योगिक युग चलाने की है जिस में पूंजी-पति की आवश्यकता ही न रहे और सब प्रबन्ध, मुनाफा इत्यादि श्रमजीविवर्ग के हाथ में हो। प्रारम्भ से सवा सौ वर्ष तक यह आन्दोलन पूंजीपति समाज की सामाजिक, आर्थिक और राज-नीतिक गुलामी का घोर विरोध करता रहा है। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में कार्लमार्क्स, हेनरीजार्ज इत्यादि साम्य-वादी नेताओं के नेतृत्व में इस आन्दोलन ने रुद्ररूप धारण कर लिया। यद्यपि योरुप की गवर्नमेन्टें प्रारम्भ से ही इस आन्दोलन को कुचलने और बदनाम करने का प्रयत्न करती रही हैं, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से तो यह आन्दोलन देश के लिये राज-नीतिक खतरा बन गया। रूस की वर्तमान राज्यक्रान्ति से वहां

के साम्यवादी बोलशविक उस की गवर्नमेन्ट सम्भालने में जो सफल हुए हैं, इसने साम्राज्यवादियों की आखें खोल दी हैं। और वे आजकल दिन रात इस चिन्ता में हैं कि बोलशिविकों के सम्बन्ध में हर प्रकार की झूठी अफवाहें फैलाई जायें, ताकि श्रमजीविवर्ग और निर्धन लोग धोखे में रहें और उनकी चान्दी खरी होती रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये धर्म, नीति और इतिहास का नाम लेकर झूठी और निर्मूल अफवाहें फैलाई जाती हैं, ताकि लोग उनके साथ सहानुभूति न करें। वास्तव में इस अन्दोलन के साथ आरम्भ से ही अधिकारी वर्ग और पूंजीपति समाज ऐसा ही व्यवहार करते रहे हैं। इस लिये हम उन अवस्थाओं का, जिन में यह आन्दोलन आरम्भ हुआ, संक्षिप्त इतिहास और बोलशविज़िम का संक्षेप में वर्णन करना आवश्यक समझते हैं।

वर्तमान औद्योगिक प्रणाली सर्वदा से नहीं चली आई और पूंजीपति और श्रमजीवि का वर्तमान सम्बन्ध भी उन्नीसवीं शताब्दी का परिणाम है। मध्यकाल में कारीगर लोग सब औद्योगिक पदार्थ अपने २ घरों में बनाते थे। और इस काम में उन का सारा परिवार सम्मिलित होता था। वस्तुओं की बिक्री का काम भी कारीगर को करना पड़ता था, जिसका परिणाम यह होता था कि दलाली में उस का रुपया नष्ट नहीं होता था प्रत्युत सब का सब उसे मिलता था। कारीगर एक स्वतन्त्र प्रतिष्ठित नागरिक होता था। एक दो शताब्दियों में इस प्रणाली में यह परिवर्तन आया कि बिक्री का काम हर एक धन्दे की पंचायत के हाथ में आगया। उन पंचायतों को श्रेणी कहते थे। धीरे २ ये श्रेणियां इतनी शक्तिशाली हो गईं कि हर एक धन्दे में मनुष्यों की संख्या निश्चित करना, उन की बनाई हुई वस्तुओं के दाम का निर्धारण करना, चेले बिठलाना और वस्तु के उत्पादन और बिक्री के लिये नियम बनाना, ये सब काम उन की ओर से होने लग पड़े। परन्तु चूंकि कारीगर ही श्रेणी को बनाते थे, इस से उन को वह कुछ हानि नहीं पंहुचा सकती थी प्रत्युत कुछ

लाभ ही। उन की स्थिति में कोई अन्तर न आया। सतारवीं और अठारहवीं सदी में रिवाज का प्रभाव कम होने से, जनसंख्या की वृद्धि से और धार्मिक और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सर्वप्रिय होने से श्रेणियों की शक्ति कम हो गई। अन्त में कारीगर और हाथ से काम करने वाले श्रमजीवि फिर अपने भविष्य के पूर्ण स्वामी बनगये और वस्तुओं का बनाना पुराने ढंग से जारी रहा। एक परिवर्तन यह हुआ कि जहां वे पहिले अपना कच्चा माल और औज़ार लेकर वस्तुएं बनाते और बेचते थे, वहां अब एक दलाल श्रेणी ऐसी पैदा हो गई जिस का काम ही यह था कि कारीगरों और श्रमजीवियों को कच्चा माल और हथियार उन के घरों में पहुंचावे और निर्धारित दाम पर, जो बाज़ारी दाम से बहुत कम होता था, उन से वस्तुएं खरीद कर स्वयम् बेचे।

औद्योगिक परिवर्तन और कृषि सम्बन्धी परिवर्तन की वृद्धि से यह अवस्था भी बदल गई। और चूंकि यह परिवर्तन ऐसा था कि पुरानी प्रणाली बिलकुल नष्ट हो गई और उस के खंडहर पर पुंजीपतियों की वर्तमान प्रणाली की नींवे पड़ीं, इस लिये इस को परिवर्तन या क्रान्ति कहते हैं।

कृषि में इस ज़माने में ज़िमींदार लोगों ने देहात की सांझी ज़मीन पर अपना २ अधिकार जमाकार चारों ओर बाड़ें लगा दीं, जिस से किसानों के लिये चरागाहें बन्द हो गईं। कृषिविद्या में जो नये ढंग सोचे गये उन से लाभ उठाने के लिये आवश्यक था कि छोटे २ खेतों के स्थान पर बड़े २ खेत हों। इस लिये ज़िमींदारों ने निर्धन किसानों से ज़मीनें छीननी और खरीदनी आरम्भ कर दीं। इन बातों का परिणाम यह निकला कि अगणित किसान, दरिद्र और निर्धन होकर, गांव छोड़ कर नगरों में आ बसे। यह कृषि सम्बन्धी परिवर्तन का तत्कालिक प्रभाव था।

औद्योगिक परिवर्तन ने औद्योगिक क्षेत्र में वैसा ही परिवर्तन पैदा कर दिया। औज़ार का स्थान मशीन ने ले लिया और मशीन

को चलाने के लिये स्टीम और पानी की शक्ति की आवश्यकता थी। इस लिये यह बात अनिवार्य हो गई कि मशीन किसी ऐसे स्थान पर लगाई जाये जहां जलशक्ति, कोयला और लोहा मिल सके। घरेलू प्रणाली अब काम नहीं दे सकती थी। जहां श्रमजीवि पहिले अपने घर में काम कर लेता था, अब उस के लिये आवश्यक था कि वह कारखाने में काम करे। घर का स्थान अब कारखाने ने ले लिया और धीरे २ देहात से भागे हुए पददलित किसान और शहरी कारीगर और श्रमजीवि, जिन को घर में काम नहीं मिलता था, कारखानों में नौकर होने आरम्भ हो गये। यह वह काल था जिस को हम औद्योगिक युग में सब से कलंकित काल कह सकते हैं। श्रमजीवियों की अवस्था अकथनीय थी। छोटी २ आयु के बच्चे और स्त्रियां निर्वाह के लिये कारखानों में कौड़ियों के बदले बारह चौदह घण्टे काम दैनिक करती थीं। तंग सड़ी हुई कोठरियों में बीस २ आदमियों को निर्वाह करना पड़ता था और स्त्रियां, पुरुष और बच्चे एक ही कमरे में रहने के लिये विवश होते थे, जिस से उन की लज्जा और विनय बिलकुल नष्ट हो जाती थी।

इस प्रकार पूंजीपति और कारखानों के स्वामी अपने अधीन श्रमजीवियों के परिश्रम से लाखों रुपये कमाने लगे। श्रमजीवि के प्रति उन के भावों का पता इस बात से चलता है कि अंगरेज़ी में श्रमजीवि को अब तक हाथ कहते हैं। कारखाने का स्वामी यह कभी समझ ही नहीं सकता था कि वे भी जीवितजागृत मनुष्य हैं। वह उन को केवल काम करने वाला "हाथ" समझता था।

जब श्रमजीवियों ने इस असहाय्य अवस्था से पीड़ित होकर ट्रेड यूनियन (व्यवसाय-संघ) बनाने का प्रयत्न किया, तब कारखानेदारों की ओर से इकठ्ठे होने के नियम पास किये गये, जिन के अनुसार यूनियन बनाना अपराध ठहराया गया और इस अपराध इपकठारसे कठोर दण्ड, यहांतक कि फांसी भी, नियत किया गया।

यह समय था, और योरुप, और विशेषकर इंगलैण्ड के श्रमजीविवर्ग की यह अवस्था थी जब साम्यवाद की नींव पड़ी। कई एक पढ़े लिखे दयालु विद्वानों ने ऐसे औद्योगिक युग का घोर विरोध करना आरम्भ कर दिया जिस में श्रमजीवियों को मनुष्य नहीं समझा जाता था और जहां सब का सब मुनाफ़ा पूंजीपतियों के पास चला जाता था। चूंकि किसी समय की औद्योगिक प्रणाली का तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रणालियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इस लिये धीरे २ साम्यवादी समाज की हर एक संस्था का विरोध करने लगे। वे अपने विचारानुसार नयी २ स्कीमें सोचने लग पड़े, जिन के अनुसार चलने से ही श्रमजीविवर्ग और समाज का कल्याण हो सकता था। कईयों के विचार तो बहुत ही हास्यजनक थे। कई स्कीमें अत्यन्त लचर थीं और बाकी प्रायः असाध्य। इस लिये पहिले साम्यवादियों को काल्पनिक साम्यवादी कहते हैं। उन में से कुछ प्रसिद्ध नेताओं के नाम ये थे, राबर्ट ओवन, टामसपेन, फोरयर और सेन्ट साइमन। पहिले दो अंगरेज़ थे और अन्तिम दो फ्रांसीसी। यद्यपि उनकी स्कीम लचर या असाध्य थीं परन्तु, उनके जायदाद, दायभाग, मुनाफ़े और पूंजीपतिवर्ग के सम्बन्ध में जो विचार थे वे बहुत सारपूर्ण थे। उनका विचार था कि मनुष्य स्वभाव से धर्मात्मा होते हैं परन्तु उन की धार्मिक प्रकृति व्यक्तिगत सम्पत्ति, मज़हब और विवाह की प्रथा से नष्ट होजाती है। इस लिये वे चाहते थे कि इन तीनों संस्थाओं को समाज से उड़ा दिया जाये।

साइमन के विचारानुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति चोरी का माल है और चोरी करने से या श्रमजीवियों को लूटने से उस की नींव पड़ी है। उदाहरण के लिये यदि १० श्रमजीवि पूंजीपति को पांच जोड़े बूटों के बनाकर देते हैं, और यदि वह बूटों को पांच रुपये प्रति जोड़े के हिसाब से बेच देता है परन्तु श्रमजीवि को एक रुपया प्रति जोड़ा देता है, तो उस ने प्रति जोड़ा चार रुपये की चोरी

की है। इस प्रकार दिन दिहाड़े की लूट से वह व्यक्तिगत सम्पत्ति जोड़ने में सफल हो जाता है। समाज को भूमिपति होना चाहिये और समाज को ही खेती का प्रबन्ध करना चाहिये। जायदाद सन्तान को कभी दायभाग में नहीं मिलनी चाहिये। इस से न केवल सन्तान स्वयम् कमाना न सीख कर आलासियों और निकम्मों की संख्या को बढ़ाती है प्रत्युत प्राकृतिक पदार्थों और सम्पत्ति से समाज को उचित लाभ नहीं पहुंचता। उदाहरण के लिये यदि किसी मनुष्य को बहुत उपजाऊ भूमि दायभाग में मिली है और स्वयम् उस को खेती करने या कराने की रुची नहीं, तो उस की ज़मीन की उपज बहुत कम होजायेगी और समाज के लिये अनाज कम परिमाण में पैदा होगा। यदि दायभाग की प्रणाली न हो और ज़मीन राज्य की ओर से ऐसे मनुष्य को दी जाये जो अत्यन्त योग्य किसान हो, तो देश को बहुत लाभ होगा। इन विचारों का उन्नीसवीं सदी में बहुत प्रचार हुआ और बड़े २ दार्शनिक, आगस्ट कामट जैसे, सेन्ट साइमन के विचार से प्रभावित हुए बिना न रह सके। परन्तु विवाह के सम्बन्ध में उन के विचार उनके पतन का कारण हुए।

इन पहिले साम्यवादियों के सम्बन्ध में जो विशेष बात कही जा सकती है वह यह है कि वे सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी सुधारों से समाज की अवस्था को उच्च करना चाहते थे। वे क्रांतिवादी न थे और न ही पूंजीपति और अधिकारीवर्ग के कट्टर विरोधी। किन्तु वे अधिकारी वर्ग की सहायता और सहानुभूति से श्रमजीवियों की अवस्था सुधारना चाहते थे। ओवन स्वयम् एक सफल व्यवसायी था। १८३० और १८४८ ई० के वर्ष योरुप में क्रान्तिकारी वर्ष थे जब कि अखिल योरुप में, और विशेषकर फ्रांस में, अशान्ति और क्रान्ति के भाव ज़ोरों पर थे। इंगलैण्ड में चार्टिस्टों का आन्दोलन आरम्भ हुआ और फ्रांस में तो १८३१ और १८४४ में दोनों बार क्रान्ति हो गई। योरुप में विरला ही कोई देश होगा जहां

इन क्रान्तियों की दुन्दभी न बजी हो। ऐसे समय में काल्पनिक साम्यवाद के स्थान पर ऐसे साम्यवाद का प्रचार हुआ जिस की फ़िलासफ़ी केवल असम्भव स्कीमों को सोचने तक ही परिमित नहीं थी प्रत्युत वास्तविक घटनाओं पर अवलम्बित थी और जिस के नेता व्यवहारिक बातों पर अधिक ध्यान देते थे। उन को तत्त्ववादी साम्यवादी कहते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध जन्मदाताओं में लुईस ब्लैंक और प्रौधन मुख्य थे।

लुईस ब्लैंक के मतानुसार सब मनुष्य समान और परस्पर भाई हैं। इस बात पर ज़ोर देता हुआ वह यह बात सिद्ध करता है कि समाज में वेतन या प्रतिफल मनुष्य के काम के अनुसार नहीं प्रत्युत उस की आवश्यकतानुसार मिलना चाहिये। हरएक को अपनी सामर्थ्य के अनुसार परिश्रम करना चाहिये। ऐसा करने से सब की आवश्यकतायें पूर्ण हो जायेंगी और किसी को शिकायत न रहेगी। वह इस प्रकार के समाजाधीन कारख़ानों के पक्ष में था जिन में श्रमजीवि शारीरिक और मानसिक योग्यता के अनुसार जितना काम कर सकते हैं करें, और मज़दूरी उन को अपनी आवश्यकतानुसार मिले। ये कारख़ाने गवर्नमेन्ट की ओर से चलाये जाने चाहियें। १८४८ की क्रान्ति के अवसर पर पैरिस में थोड़े समय के लिये इस प्रकार के कारख़ाने खोलने में लुईस ब्लैंक को सफलता भी प्राप्त हुई।

प्रौधन एक प्रकार का अराजकवादी था। ज़िमींदार और धनी लोग जो अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति के पक्ष में यह युक्ति देते हैं कि वे अपने परिश्रम से अपनी सम्पत्ति जोड़ते हैं उन के विरुद्ध प्रौधन की यह युक्ति है कि यदि श्रम से जायदाद रखने का अधिकार मिलता हो, तो जब एक श्रमजीवि एक धनी मनुष्य के बागीचे में काम करता है, तो उस श्रमजीवि का उस बागीचे पर अधिकार क्यों न मान लिया जाये। प्रौधन इस बात के भी विरुद्ध था कि सिक्का विनिमयसाधन के रूप में देश में प्रचलित किया जाये। वह

चाहता था कि विनिमय बैंक देश में स्थापित किये जायें जहां लोग मज़दूरी के नोट, जिस पर जितने घण्टे उन्होंने काम किया हो लिखे हों, लेकर जायें और उनके बदले उन की जीवन की सब आवश्यकतायें पूर्ण की जायें।

साम्यवाद की यह अवस्था भी स्थिर न रह सकी और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में कार्ल मार्क्स ने, जो जर्मनी का रहनेवाला एक यहूदी था, उस जंगी साम्यवाद की नींव रखी जिस को उस के अनुगामी अभिमान से वैज्ञानिक साम्यवाद कहते हैं। एन्जल, लैस्सेल और अमरीका में हेनरी जार्ज, इन तीनों ने मार्क्स के विचारों का प्रचार करने में बहुत भारी भाग लिया। मार्क्स के साम्यवाद में यह विशेषता थी कि उस में वर्तमान औद्योगिक प्रणाली के विरुद्ध कोई गाली गलौच, यहां तक की टीका टिप्पणी भी नहीं। पूंजीपति की प्रशंसा की गई है कि उस ने एक ऐतिहासिक युग में आवश्यक सेवायें की हैं। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को भी दुतकारा नहीं गया। कार्ल मार्क्स ने अपनी विचारशृंखला के लिये रिकाडो के सिद्धान्तों का आश्रय लिया है। वर्तमान औद्योगिक प्रणाली को बुरा न कहने पर भी वह वर्तमान पूंजीवाद को सब से अधिक बदनाम करने में सफल हुआ है। उस ने शक्तिपूर्वक तर्क, इतिहास और सत्य घटनाओं द्वारा पूंजीवाद का इस प्रकार ख़ाका खींचा है और विश्लेषण किया है कि पूंजीपति स्वयमेव ही पाठक की दृष्टि में घृणित चिमगादड़ की तरह दिखाई देते हैं, जिस का अन्त शीघ्र होनेवाला है।

कार्ल मार्क्स के साम्यवाद में एक और विशेषता यह है, और वास्तव में यही उसके साम्यवाद का विशेष चिन्ह है, कि उस में श्रमजीविवर्ग के अतिरिक्त और किसी के लिये स्थान नहीं। कार्ल मार्क्स का साम्यवाद दरिद्रों का साम्यवाद है। कार्ल मार्क्स के पहिले साम्यवादी वर्तमान सम्पत्तिविभाग के विरुद्ध आन्दोलन करते थे—वे न्याय चाहते थे। कार्ल मार्क्स ने श्रमजीवि और पूंजी-

पति में परस्पर युद्ध की घोषणा की है। वह निर्धन और अमीरों में घरेलु युद्ध का प्रचार करता है। उस का नाद वर्गसंग्राम (क्लास वार) है। यही सिद्धान्त है जिस से कार्ल मार्क्स के विचार संसार के श्रमजीवियों में सर्वप्रिय हो गये और जो उन विचारों को समाज की शान्ति के लिये अत्यन्त भयानक बनाता है।

कार्ल मार्क्स के साम्यवाद की तीसरी विशेषता यह है कि उसका उद्देश्य संसार भर के अमीरों और ग़रीबों को एक झण्डे के नीचे करना है। वह देशों का भेदभाव नष्ट करना चाहता है। वह लोगों में जर्मन, रूसी, अंगरेज़ और फ्रांसीसी आदि का अन्तर नहीं करना चाहता प्रत्युत अमीर और ग़रीब का और पूंजीपति और श्रमजीविवर्ग का।

अंगरेज़ श्रमजीवि और निर्धन मनुष्य को रूसी श्रमजीवि और निर्धन मनुष्य के साथ कोई द्वेष नहीं होना चाहिये। दोनों दरिद्र हैं और दोनों ही पूंजीपति के अत्याचारों से पीड़ित हैं। इस लिये उन को परस्पर मेल करके शत्रु का मुक़ाबला करना चाहिये।

कार्ल मार्क्स के साम्यवाद की इन विशेषताओं का वर्णन करके हम उसके पूंजीवाद के अन्त के सम्बन्ध में जो विचार हैं उन का संक्षेप से वर्णन करना चाहते हैं। कार्ल मार्क्स व्यवसायिक इतिहास पर दृष्टि दौड़ाता हुआ लिखता है कि प्राचीन काल में, जब दस्तकारी की घरेलु प्रणाली प्रचलित थी, उद्योगधन्दों पर कई लोगों का स्वामित्व था। हर एक घर उद्योगधन्दों का एक छोटे से प्रमाण पर केन्द्र था। श्रमजीवि और स्वामी एक ही मनुष्य होता था। परन्तु औद्योगिक परिवर्तन ने घरों की जगह कारख़ाने स्थापित कर दिये और कारीगर लोग वहां काम करने लग पड़े। जहां पहिले लाखों मनुष्य छोटे २ प्रमाण पर पूंजीपति थे, अर्थात उद्योगधन्दों के स्वतन्त्र स्वामी होते हुए उन में लगे हुए थे, अब उन का स्थान कुछ हज़ार बड़े २ पूंजीपतियों ने ले लिया, जिन में आजकल बहुत मुक़ाबला है। इस तीव्र मुक़ाबले से छोटे २ सब कारख़ाने नष्ट हो

रहे हैं और उन का स्थान बड़े २ कारखाने ले रहे हैं। उद्योगधन्दे चलाने की बागडोर भी धीरे २ कुछ मनुष्यों (डाइरेक्टर इत्यादि) के हाथ में चली गई है, जिस का परिणाम यह निकल रहा है कि सब देशों में ऐसे दल बन रहे हैं जिन में एक ओर लाखों श्रमजीवि इकट्ठे होकर काम करते हैं और दूसरी ओर एक या दो डाइरेक्टर या स्वामी उन की देखभाल में लगे हुए हैं। इस लिये जब भी श्रमजीविवर्ग पीड़ित हो कर क्रान्ति करने पर उतारु होंगे उन के लिये काम बहुत सरल होगा। एक दो मनुष्यों को ही हटाना होगा कि सारा कारखाना उन के हाथ आजायेगा और वे उस के स्वामी बन जायेंगे। इस प्रकार वर्तमान पूंजीपतियों का अन्त शान्तिपूर्वक स्वयं कुछ वर्षों में होजायेगा। पूंजीपतियों के सर्वनाश की सामग्री उन्हीं के पास है।

कार्ल मार्क्स का इतिहास के सम्बन्ध में विचार है कि उस का आधार आर्थिक आवश्यकतायें हैं। अर्थात सब सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थायें किसी न किसी आर्थिक आवश्यकता को पूरा करने के लिये चलाई गई हैं। इस लिये वह मानवी और आध्यात्मिक भावों को भिन्न स्थान देने के लिये तय्यार नहीं।

रूस में जिन साम्यवादियों ने क्रान्ति करके गवर्नमेंट को अपने हाथ में लेलिया और जिन को बोलशिविक कहते हैं वे वास्तव में कार्ल मार्क्स के उत्साही अनुयायी हैं। बोलशिविक का शब्दार्थ "बहुमत" है। क्रान्ति आरम्भ होने से पहिले रूस में साम्यवादियों के दो दल थे। पहिला वह दल था जो थोड़े से सुधारों से संतुष्ट होनेवाला था। उस का कार्यक्रम कम से कम सुधारों के पक्ष में था। उस को रूसी भाषा में मेनशिविक दल कहते हैं। उस के मुक़ाबलेमें जो दल क्रान्तिकारी परिवर्तनोंके पक्षमें था उसे बोलशिविक कहते हैं। जब रूसी फ़ौज में विद्रोह हुआ, तो मेनशिविक दल ने शासन की बागडोर अपने हाथ में लेली। परन्तु चूंकि मित्रराष्ट्रों

के प्रभाव के नीचे होने से वे युद्ध को जारी रखना चाहते थे, यद्यपि सारी रूसी फ़ौज और किसान युद्ध से तंग आये हुए थे, इसी लिये फ़ौज ने विद्रोह किया और वह बोलशिविकों के पक्ष में होगई। इस से वे राजकाज सम्भालने में सफल होगये। मित्रराष्ट्रों के अगणित प्रयत्न करने पर भी वे रूस में अपनी प्रतिष्ठा जमाए हुए हैं। अस्तु, हमने यहां राजनीतिक इतिहास का वर्णन नहीं करना। यहां हमें केवल यही बताना है कि बोलशिविज़म कोई नई वस्तु या तत्त्व नहीं है। कार्ल मार्क्स साम्यवाद का क्रियात्मक रूप देने का यह केवल प्रयत्नमात्र है और यह मानना पड़ेगा कि साम्यवाद के बहुत से सिद्धान्तों को क्रियात्मक जीवन में लाने में बोलशिविकों को रूस में बहुत सफलता हुई है। रूस की सब भूमि गवर्नमेन्ट का स्वामित्व ठहराई गई है और किसानों के बीच में खेती बांट दी गई है। कारखानों के स्वामी, विलासिता का जीवन व्यतीत करनेवाले, एक दो रूसी नहीं प्रत्युत उन में काम करनेवाले और दिन-रात पसीना बहानेवाले श्रमजीवि अब मुनाफ़े के अधिकारी हैं। वे अब देश के सेवक हैं, किसी व्यक्तिविशेष के नहीं।

श्रीमन्तवर्ग और मध्यम श्रेणी के लोग, जो अब तक राज्य करते रहे हैं, अब निर्धन श्रमजीविवर्ग के दास बने हुए हैं या देश छोड़ कर भाग गए हैं। कार्ल मार्क्स के वर्गसंग्राम के सिद्धान्त पर पूर्ण आचारण किया गया है। रूसियों का युद्धनाद—"सब देशों के श्रमजीवियो! मिल जाओ"—जहां भी बोला जाता है पूंजीपति के विचारकोण से हानिकारक सिद्ध होता है। बोलशिविकों का दावा है कि यदि श्रमजीवि और सिपाही उनकी शिक्षा से परिचित हो जायें, तो वे कभी भी पूंजीपतियों के चंगुल में फंस कर, दूसरे देशों के श्रमजीवि और सिपाही भाइयों का गला काटने के लिए तय्यार न हों, क्योंकि उनका परस्पर कोई द्वेष नहीं है। द्वेष वास्तव में भिन्न २ देशों के पूंजीपतियों में है। उन्हीं का साम्राज्यवाद इस महायुद्ध का कारण है। इसलिए जबतक पूंजीवाद

का वर्तमान ढंग समाज में प्रचलित रहेगा, युद्ध बन्द नहीं होसकता। वे वर्तमान युरोपीयन युद्ध की ओर इशारा करते हैं और कहते हैं, देखो योरुप के मदान्ध साम्राज्यवादियों और पूंजीपतियों ने आपस में युद्ध की घोषणा की। "देश संकट में है। जाति तुम्हारे आत्मत्याग को चाहती है।" इत्यादि उत्साहजनक शब्दों के नाद से उन्होंने श्रमजीवि-वर्ग को धोखे में डालने का प्रयत्न किया। निर्धन, निर्दोषी और अपढ़ किसानों और श्रमजीवियों को, उनके घरों से निकाल कर फ़ौज में भरती करके कसाईखाने में मरने कटने के लिए भेज दिया, ताकि वे जाति के लिए चारे का काम दें। वहां उन्होंने एक दूसरे के गले काटे और कटवाए। लाखों नन्हे २ बालबच्चों को यतीम और स्त्रियों को असहाय्य करके वे रणक्षेत्र में काम आए। लाखों अपने अंगों को तोड़ कर बेकार घर बैठे हुए हैं। और हज़ारों को क़ैद की कठिनाइयों झेलनी पड़ी हैं। इस नरमेध का परिणाम क्या निकला?—यही कि एक देश के पूंजीपति दूसरे देशों के पूंजीपतियों से तेल के चश्मे, उपनिवेश और खानें लेने में सफल होगए। निर्धन वैसे के वैसे ही रहे, और दासता की बेड़ियों से अपने आप को और भी दृढ़ता से जकड़ लिया। क्या राईन के तट पर रहनेवाले श्मालर किसान का लिवरपूलनिवासी निर्धन थामस से कोई द्वेष था कि श्मालर ने थामस को गोली मारकर उस के बच्चे को अनाथ, उसकी स्त्री को विधवा और उसके वृद्ध पिता को जीवित ही मृतप्रायः कर डाला।

संसार के हर एक भाग में रहनेवाले निर्धनों और श्रमजीवियों के लिए बोलशिविज़म की यही शिक्षा है कि पूंजीपतियों के उन्मूलन में ही संसार की मुक्ति है। उसके प्रभाव का अनुमान वही लोग लगा सकते हैं जिनके हृदय में दरिद्रों के साथ सहानुभूति है या जिन को उनके दुःखों का कुछ ज्ञान है।

बोलशिविज़म में धर्मविरुद्ध कोई बात नहीं है। परन्तु चूंकि संसार के इतिहास में पूंजीपतियों और श्रीमन्तवर्ग ने धर्म का

नाम लेकर निर्धनों को दासता की शृङ्खला में जकड़ने के लिए निरन्तर प्रयत्न किया है, इसलिए बोलशिविक धर्म को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। गिरजों पर अधिकार जमाना और पूंजीपतिवर्ग के सहायक और वास्तव में उनके सम्बन्धी पादरियों को वहां से निकालने का काम इसीलिए बोलाशिविक लोगों ने, राज्य की बागडोर हाथ में लेते ही, तुरन्त करना अवश्यक समझा।

धर्म की आड़ किस प्रकार पूंजीपतिवर्ग ने ली, इसकी व्याख्या बोलशिविक लोग इस प्रकार करते हैं। जब पूंजीपतियों ने देखा कि उनके पास सम्पत्ति है और वे संख्या में बहुत थोड़े हैं और इस अवस्था में वे अपने स्वार्थ की रक्षा नहीं कर सकते, तो जहां उन्हों ने अपनी जायदाद की रक्षा के लिए कठोर क़ानून बनाये और अपराधियों को कड़े दण्ड देकर अपने वश में करना आरम्भ किया, वहां उन्होंने धर्मका आश्रय लेना भी आवश्यक समझा, क्योंकि क़ानूनी आज्ञायें केवल क़ानून के भय से, स्थायी नहीं हो सकतीं। समाज में यदि अधिकांश लोग शान्तिप्रिय और नियम-भंग करनेवाले नहीं, तो इसका कारण यह नहीं कि वे दण्ड के भय के कारण शान्तिप्रिय हैं। उनकी शान्तिप्रियता का कारण उनकी नैतिक शिक्षा और धार्मिक और आध्यात्मिक भाव हैं। इस लिए पूंजीपतियों ने जो नियम अपनी रक्षा के लिए बनाए उनका समर्थन कराने के लिए ईश्वर का एक ढोंग रचा। और उसकी ओर से भी वही बातें कहलाई गई, "चोरी करना पाप है, दूसरे की सम्पति छीनना पाप है" इत्यादि। निर्धनों को एक दूसरेसे तो माल छीनना ही नहीं; उनके पास रखा ही क्या है। इस लिए इन उपदेशों का इसके अतिरिक्त और कोई अभिप्राय नहीं हो सकता कि पूंजीपतियों और श्रीमन्त लोगों को मत लूटो, भूखे बेशक मर जाओ! दरिद्रों को संतुष्ट करने के लिए उनको बताया गया कि अमीरों और ग़रीबों की आत्मा एक है; सब बराबर हैं और स्वर्गीय सुख ग़रीबों को मिलेगा। निर्धन श्रमजीवि, जो दिनरात दौड़धूप करके भी, अपने नन्हे २

बच्चों का पेट नहीं भर सकता, अपने सन्मुख, आकाश से बातें करनेवाले सुन्दर महलों के सजे हुए कमरों में, दावतें उड़तीं देखता है। उसके मन में क्षण भर के लिए खेद और क्रोध का मिश्रित भाव उत्पन्न होता है;परन्तु धार्मिक उपदेश को स्मरण करके वह शान्त हो जाता है। वह प्रायः इस आश्वासन से प्रसन्न होजाता है कि भावी जन्म में वह आनन्द लूटेगा और श्रीमन्त लोग स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकेंगे।

दरिद्र श्रमजीवियों के विचारों को अपने कल्याण की ओर से हटाने और उन्हें पूंजीपतियों की सेवा में लगाये रखने के लिये श्रीमन्तवर्ग ने गिरजों और पादरियों का जाल-सा देश के चारों ओर बिछा रखा है। पादरी लोग वास्तव में इस वर्ग के वेतनभोगी दलाल हैं, जिन का दिनरात यही काम है कि ग़रीबों का ध्यान ईश्वर और उन कल्पित उपदेशों की ओर लगाये रखे, ताकि पूंजीपतिवर्ग, निश्चिन्त होकर, अपना ध्यान धन जोड़ने और उन का रक्त चूसने में लग सकें।

येबोलशिविकों के धर्मसम्बन्धी विचार हैं। इन को पढ़कर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। जब समाज दासता की शृंखला को तोड़ कर परे फेंक देता है तो यह स्वाभाविक है कि उस में नई उपलब्ध की हुई स्वतन्त्रता की तरंग में, हर प्रकार के बन्धनों को तोड़ने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाये। जब फ्रांस में १७८९ में क्रान्ति हुई, तब भी इस प्रकार के विचार ज़ोरों पर थे।

साम्यवाद के प्रकरण को समाप्त करने से पहिले हम योरुप में प्रचलित एक और आन्दोलन का वर्णन करना चाहते हैं, जिसका सम्बन्ध लोग ग़लती से साम्यवाद के साथ जोड़ते हैं और जिसे वे उस की शाखा समझते हैं। हमारा अभिप्राय अराजकवाद से है। अराजकवाद के जन्मदाता प्रिंस क्रपाटकिन और बेकोनिन हुए हैं। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर भी अराजकवादी थे।

साम्यवाद और अराजकवाद में बहुत भारी अन्तर है। साम्यवादी लोग तो यह चाहते हैं कि समाजसुधार के लिये, वर्तमान वैयक्तिक प्रयत्नों को छोड़कर सब काम गवर्नमेन्ट को करना चाहिये। सम्पत्ति का स्वामित्व व्यक्ति का नहीं प्रत्युत समाज का होना चाहिये इत्यादि। परन्तु अराजकवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये अपना सर्वस्व बलिदान करने को तय्यार हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र होना चाहिये। फौज, पोलीस और गवर्नमेन्ट का प्रत्येक देश में अन्त होजाना चाहिये, क्योंकि किसी को अधिकार नहीं कि दूसरे को काम करने के लिये बाध्य करे। एक अराजकवादी का कहना है कि सब से बड़ा सुधार जो एक गवर्नमेन्ट कर सकती है वह यह है कि वह अपना अन्त करले। फौज, पोलीस और गवर्नमेन्ट की समाज में आवश्यकता इस लिये पड़ती है कि अपराधियों को दण्ड दिया जाये और बुराई दूर की जाये। परन्तु अनुभव बतलाता है कि गवर्नमेंट का लोगों के जीवन में जितना हाथ बढ़ता जाता है, उतना ही समाज में पाप बढ़ता जाता है। बुराई को दूर करने की अपेक्षा बुराई को पैदा ही न होने देना अच्छा है। ऐसा करने का सरल उपाय यह है कि पहिले उस बड़ी बुराई को दूर किया जाये जो देश में गवर्नमेंट के रूप में विद्यमान है। दूसरा उपाय यह है कि हर मुहल्ला और गली में स्वतंत्र पंचायतें स्थापित की जायें, जो अपने मुहल्ले या गली में सामाजिक कल्याण के सब काम करें। सेन्ट्रल कमेटी या गवर्नमेंट नहीं होनी चाहिये।

अराजकवाद की शिक्षाका यह परिणाम निकला है कि योरुप में एक दल इस प्रकार का बन गया है जो सरकारी कर्मचारियों, पोलिस और फ़ौज के आदमियों को हर सम्भव उपाय से कत्ल कर देना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता है। यह सब कुछ वह किसी व्यक्तिगत या राजनीतिक पक्षपात से नहीं करता प्रत्युत संसार से बुराई दूर करने के लिये। हर एक मनुष्य को जिसका

गवर्नमेंट के साथ सम्बन्ध है वह बुराई का प्रतिनिधि स्वरूप समझता है, जिसको क़त्ल कर देने से वह बुराई को कुछ दर्जे कम करके अपना कर्त्तव्य पूरा करता है।

रूस का प्रसिद्ध महात्मा टालसटाई भी अपने विचार में अराजकवादी था। परन्तु दूसरे अराजकवादियों से उसका यह मतभेद था कि वह हिंसा का कट्टर विरोधी था। वह अपना उद्देश्य अहिंसात्मक संग्राम से पूर्ण करना चाहता था।

साम्यवाद का वर्णन करते हुए हम ने इंगलैण्ड की फाबियन सोसायटी और जर्मनी के राज्यपक्षपाति साम्यवादियों के विषय में कुछ नहीं लिखा। इन को साम्यवादियों में नरम दलवाले साम्यवादी समझना चाहिये। ये धीरे २ सुधार करने के पक्षपाती हैं।

ऊपर दिये हुए साम्यवाद के वर्णनसे यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि उन की सब युक्तियां सारपूर्ण और सच्ची हैं। श्रम को ही धन पैदा करने का साधन समझ लेना भारी भ्रम है। इसी भूल में पड़कर कार्ल मार्क्स ने पूंजीपति की इतनी भद्दी शकल खींची है। परन्तु यह अवसर साम्यवाद के पक्ष या विपक्ष में लिखने का नहीं। इस विषय पर एक भिन्न मनोरंजक पुस्तक लिखी जा सकती है। हम ने यहां साम्यवाद की व्याख्या उन्हीं के शब्दों में की है न कि उन के शत्रुओं के मुख से, जैसा कि साधारणतयः किया जाता है। आर्थिकरूप से इस आन्दोलन में कितनी सच्चाई है और कितनी गलतबयानी यह इस पुस्तक के पहिले पृष्ठों से स्वयम् पाठकों को विदित होजायेगी।

ट्रेड यूनियन (व्यवसाय संघ)

मांग और उपलब्धि का नियम किस प्रकार मज़दूरी के निर्ख को स्थिर करता है इस पर विचार कर चुके हैं। उससे यह स्पष्ट है कि अन्तिम सीमा, जहांतक मजदूरी बढ़ सकती या बढ़ाई जासकती है, वह श्रमजीवि की योग्यता और काम पर निर्भर है। परन्तु यह मान लेना गलत होगा कि साधारणतयः श्रमजीवियों को जो वेतन मिलता है वह उसके काम के मूल्य के ठीक अनुकूल है। मांग और उपलब्धि के क़ानून निर्जीव क़ानून हैं, वे स्वयमेव सब काम ठीक तौर से नहीं करते। परोक्षमें मज़दूरी का निर्ख श्रमजीवि और स्वामी की योग्यता, मुक़ाबले की शक्ति और अनुभव पर ही निर्भर रहता है। और जब हम मज़दूरी पर ध्यानपूर्वक विचार करते हैं, तो इस कथन की सच्चाई में कोई सन्देह नहीं रहता कि साधारणतयः संसार भर में, और विशेषरूप से भारत में, श्रमजीवियों को उन के स्वत्व से कम वेतन मिल रहा है। इस का कारण यह है कि औसत श्रमजीवि अपढ़ होता है। उस को यह पता ही नहीं लग सकता कि किसी खास समय में उस के श्रम के लिये मांग की क्या अवस्था है और मंडी की क्या हालत है। जिन वस्तुओं के बनाने में वह भाग लेता है, उन के बनाने और बिक्री के दाम से भी वह अपरिचित रहता है। इन सब बातों पर तुर्रा यह कि उस के पास इकट्ठी की हुई पूंजी भी बहुत थोड़ी होती है, जिस से कि वह कुछ दिन नौकरी न मिलने की अवस्था में अपना निर्वाह करले। इन और अन्य बातों से, जिन का वर्णन मज़दूरी के प्रकरण में हो चुका है, प्रायः वह विवश होजाता है कि जितना भी वेतन उस को कारखाने का स्वामी देना चाहे, स्वीकार करले। स्वामी के लिये यह साधारण बात है कि वह सोहन को नौकर रखता है या मोहन को। परन्तु

रोहन के लिये यह बात अत्यन्त आवश्यक है कि वह इस नौकरीको प्राप्त करले, नहीं तो उस को भूखा मरना पड़ेगा। इस लिये परस्पर मुक़ाबला करके वे अपनी मज़दूरी घटा लेते हैं और स्वामी को लाभ होता है। यह अवस्था तबतक नहीं सुधर सकती जबतक श्रमजीवि भी परस्पर मेल करके एक नियत वेतन की मांग नहीं करते। जैसे स्वामी निर्णय करने में एक मन होता है, उसी प्रकार श्रमजीवियों को भी मज़दूरी की मांग करते हुए एक ही मन होना चाहिये। भिन्न२ नहीं (अंग्रेज़ी में ऐसा करने को इकट्ठा सौदा कहते हैं।) इस प्रथा का आरम्भ ट्रेड यूनियन के बनने के साथ २ हुआ। वास्तव में ट्रेड यूनियन बनाने का प्रधान उद्देश्य और लाभ भी यही है कि व्यक्तिगत सौदों की जगह मज़दूरी के सौदे ट्रेड यूनियन के निपुण और अनुभवी अधिकारियों की ओर से हों। आजकल इंगलैंड, अमरीका और योरुप के सब देशों में इस प्रकार के संघ बन गये हैं। कदाचित् ही कोई व्यवसाय हो जिस में श्रमजीवियों ने अपने लाभ के लिये ट्रेडयूनियन न बना लिये हों। वहां ये इतने प्रचालित हो गये हैं कि हर एक उद्योगधन्दे की उपशाखाओं के यूनियन भिन्न हैं और सारी शाखाओं की संयुक्त यूनियन भिन्न। और इस प्रकार एक ही किस्म के उद्योगधन्दों की यूनियन जुदा और देश के सब व्यवसायों की सैंट्रल यूनियन कांग्रेस भिन्न है। इन यूनियनों के पास करोड़ों रुपये चन्दे के जमा हैं। उन्होंने निज की बीमा की कम्पनियां, समाचारपत्र, पुस्तकालय और औषधालय स्थापित किये हुये हैं। और देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन पर उनका बहुत प्रभाव है। इस वर्णन से यह नहीं समझना चाहिये कि उनकी यह अवस्था सदा से चली आई है। हर प्रकार के आन्दोलन को आरम्भ में मंत्रणाकाल में से गुज़रना पड़ता है। ट्रेड यूनियनों की भी आरम्भ में यही अवस्था हुई। उनका जन्म इंगलैंड में अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ। परन्तु १८७१ से पहिले उसके क़ानूनी अस्तित्व को ही न माना गया। १७९९

और १८०० में जत्थे बनाने के नियम पास किये गये, जिनके अनुसार यूनियन बनाना तथा उसका मेम्बर बनना अपराध ठहराया गया। हज़ारों श्रमजीवियों को इस अपराध के कारण दण्ड भोगना पड़ा। परन्तु ट्रेड यूनियन का आन्दोलन नष्ट न हो सका। प्रथमतः गुप्त समितियां बननी आरम्भ हुईं। परन्तु १८२४ में जब वे क़ानून रद किये गये, तो खुल्लमखुल्ला श्रमजीवियों ने यूनियनों में भाग लेना आरम्भ कर दिया और इस आन्दोलन की बहुत उन्नति हुई।

हमें ट्रेड यूनियन के संक्षिप्त इतिहास और विविध अवस्थाओं का, जिनमें से ये गुज़रे हैं, यहां वर्णन नहीं करना। इन पंक्तियों के लिखने का हमारा अभिप्राय केवल यह बतलाना था कि इतिहास अपने आप को दोहराता है।

भारत में आजकल ट्रेड यूनियन का आन्दोलन बचपने में है। और गवनमेंट और पूंजीपतियों की ओर से इसके साथ जो व्यवहार हो रहा है वह कुछ आशाजनक नहीं। साथ ही इस आन्दोलन के चलानेवालों की ओर से भी लगातार गलतियां हो रही हैं, जिन से हमें आशंका होती है कि भारत में भी कदाचित् इस आन्दोलन को जड़ पकड़ने और सफलता प्राप्त करने के लिये आपत्तियों की अग्निपरीक्षा में से गुज़रना पड़ेगा। परन्तु अन्य देशों के इतिहास और विशेषकर इंगलैंड के इतिहास से, जहां से इसका जन्म हुआ, आन्दोलन के नेताओं को शिक्षा लेनी चाहिये और पहिली असफलताओं से घबराना नहीं चाहिये।

यूनियन को दृढ़ बनाने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि पहिले उसकी आर्थिक अवस्था को पक्का करने की ओर ध्यान दिया जाये। चन्दे की नियमपूर्वक प्राप्ति और हिसाब की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये, ताकि उसका दुरुपयोग न हो सके और हिसाब की सच्चाई में किसी को सन्देह न हो। सैन्ट्रल प्रबन्ध अत्यन्त उत्तम होना चाहिये। यूनियन की देखरेख और नियंत्रण ऐसे आदमियों के हाथ में हो जो किसी न किसी रूप में

उस व्यवसाय से सम्बन्ध रखते हों और जिनको उस व्यवसाय का व्यक्तिगत अनुभव और ज्ञान हो। नये आदमी और कर्मचारी तय्यार करने का विशेष प्रबन्ध होना चाहिये, ताकि अच्छे योग्य अफसर मिलते रहें। इस के लिये श्रमजीविवर्ग में से योग्य आदमी चुनने चाहियें और उनको व्यवसाय और अर्थशास्त्र की शिक्षा देनी चाहिये। जहांतक हो सके वकीलों के हाथ में ट्रेड यूनियन की बागडोर नहीं देनी चाहिये। आयुपर्यन्त मांसिक परिश्रम करने से और क़ानूनी बातों की खोज करने के कारण क्रियात्मक जीवन से इन लोगों का सम्बन्ध प्रायः टूट जाता है और मामले को निपटाने के स्थान पर वे उसे लम्बा कर देते हैं। हर एक आन्दोलन के नेतृत्व के लिये सहानुभूति और योग्यता ही पर्याप्त नहीं। विशेषकर ट्रेड यूनियन के लिये तो उस व्यवसाय का व्यक्तिगत अनुभव जिस की यूनियन बनाया जायें, होना अत्यन्त आवश्यक गुण है।

श्रमजीवियों को लेक्चरों और तसवीरों द्वारा शिक्षित करने का प्रयत्न करना चाहिये और उन के सामाजिक जीवन को उच्च करने के लिये श्रमजीवियों के पुस्तकालय, रात्रि पाठशालायें, खेल-कूद इत्यादि के सामान की भी व्यवस्था करनी चाहिये। इस प्रकार के औषधालय मुफ़्त स्थापित करने चाहियें जहां उन को रोगसम्बंधी परामर्श मुफ़्त और औषध सस्ते दामों मिल सकें। आवश्यकतानुसार उन के ज[illegible] हुए २ चन्दे से आधे या चौथाई के बराबर उन को ऋण देने [illegible] दिलाने का प्रबन्ध भी होजाये, इस सम्बन्ध में सब से अच्छी बा[illegible] तो यह होगी कि यूनियन की ओर से श्रमजीवियों के लिये सहयोग समितियां खोली जायें, जिन के फण्ड यूनियन के फण्ड से भिन्न हों।

श्रमजीवियों के बालबच्चों को उन के पिता के व्यवसाय में प्रविष्ट होने के लिये यूनियन को हर प्रकार की सुविधायें ढूंडनी [illegible]यें। अर्थात चेला बिठलाने और छात्रवृत्ति देने में यूनियन

को प्रयत्नशील और उदार होना चाहिये। यह रचनात्मक कार्यक्रम है जिस पर आचरण करना हर एक यूनियन का कर्त्तव्य है और जिस को क्रियात्मकरूप में लाने से वह अपने मैम्बरों की अवस्था को सुधार सकता है। इस से यूनियन दृढ़ होगा, मेम्बरों पर उस के उपकारों का सिक्का जमेगा और वे समझेंगे कि यूनियन बनाने से उन का बहुत लाभ है। यदि इन बातों में से किसी को कार्यरूप में परिणत न किया जाये और केवल मासिक चन्दा ही लिया जाये तो मेम्बर शीघ्र ही चन्दे को जुर्माना समझने लग पड़ेंगे और यूनियन को छोड़ देंगे। दूसरी ओर यूनियन के कर्मचारियों का कर्त्तव्य होना चाहिये कि वे व्याख्यानों और समाचारपत्रों द्वारा और क़ानूनी कौंसलों सभाओं में एक प्रबल आन्दोलन की लहर उठावें। और गवर्नमेंट पर दबाव डालें कि वह श्रमजीवियों की अवस्था में सुधार के लिये कुछ ऐसे क़ानून पास करे जैसे कि इंगलैण्ड और जर्मनी में पास किये गये हैं। दृष्टान्त के लिये काम करते हुए ज़ख्मी या काम करने के असमर्थ हो जाने पर कारख़ाने के स्वामी से प्रतिफल दिलाना, जीवन बीमा करने में सरकार और स्वामी की ओर से भी सहायता मिलना, हर एक धन्दे के लिये कम से कम वेतन नियत करना इत्यादि कई सुधार हैं जिन को क़ानूनी कौंसलें कर सकती हैं।

हमारे देश में ट्रेड यूनियन का आन्दोलन ज़ोरों पर है और बहुत से उद्योगधन्दों में यूनियन स्थापित होचुके हैं। परन्तु यह बात खेद से देखी जाती है कि भारत में इस का अन्तिम और प्रथम उद्देश्य हड़ताल कराना समझा जाता है। कई एक यूनियन तो ऐसे हैं जिन का जन्म पीछे होता है और हड़ताल पहिले। और बहुत से ऐसे हैं जिन के कर्मचारियों ने अपनी सत्ता और प्रभाव दिखाने या श्रमजीवियों को चकित करने के लिये ही हड़ताल करने पर अपना सारा ज़ोर लगाया है, और असफल होने पर निर्धन

श्रमजीवियों को अपने हाल पर छोड़ कर आप चुपचाप जुदा होगये हैं।

हड़ताल करना युद्ध घोषणा के तुल्य है। इस लिये ऐसा करने से पाहिले युद्ध के परिणामों पर भलीमान्ति विचार कर लेना चाहिये। युद्धघोषणा करने के लिये केवल यही बात पर्याप्त नहीं होती कि एक दल अपने आप को सत्यमार्ग पर समझे और न्याय उस की ओर हो। क्या किसी सेनापति ने अपनी सेना को शत्रु के सेना पर केवल इसीलिये धकेल दिया है कि वह सच्चा है और शत्रु झूठा? वीरता के साथ व्यूहरचना का जानना भी सफलताके लिये आवश्यक है। इस लिये हड़ताल कराने के पहिले यह सोच लेना चाहिये कि सफलता की सम्भावना कहां तक है और क्या सामाजिक और आर्थिक अवस्था अनुकूल है। यदि ऐसा न हो तो धमकी और कूटनीति से काम लेना चाहिये और युद्ध घोषणा कभी नहीं करनी चाहिये। नरमी से या समझौता करने से काम चल जावे, तो अत्युत्तम है। अधिक वेतन या कम घंटे काम करने की मांग करना कोई धार्मिक और सिद्धांत विषयक बात नहीं है कि इसमें कोई अपमान समझा जाये।

अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार वेतन के लिये लड़ने से पहिले यह देख लेना चाहिये कि नीचे लिखी एक दो बातें उस वेतन पर घटती हैं या नहीं। उनके लागू होने से सफलता की सम्भावना हो सकती है।

(१) श्रम के लिये मांग आवश्यक और निश्चल हो। (२) हड़ताल करनेवालों के स्थान में कोई दूसरे श्रमजीवि आसानी से न मिल सकें, जिस से उनके अभाव के कारण सब काम रुक जायं और पूंजीपति को बहुत नुकसान पहुंचे।

लाहौर में गत वर्ष डाकखाने की हड़ताल इन दोनों सिद्धांतों के विरुद्ध थी। पहिले तो हड़ताल करनेवाले थोड़े थे, जिनकी जगह नई भरती करना कोई कठिन काम न था। दूसरे हड़ताल

करनेवाले कर्मचारी व्यवसायकुशल, कारीगरों में नहीं गिने जा सकते थे, जिनके चले जाने से काम रुक जाता। उनकी जगह दूसरे आदमी मिल सकते थे, जो कि एक या डेढ़ सप्ताह काम सीख कर उनकी जगह भलीभांति ले सकते थे। परिणाम वही निकला जिसकी कि हरएक को आशा थी।

भाग चौथा

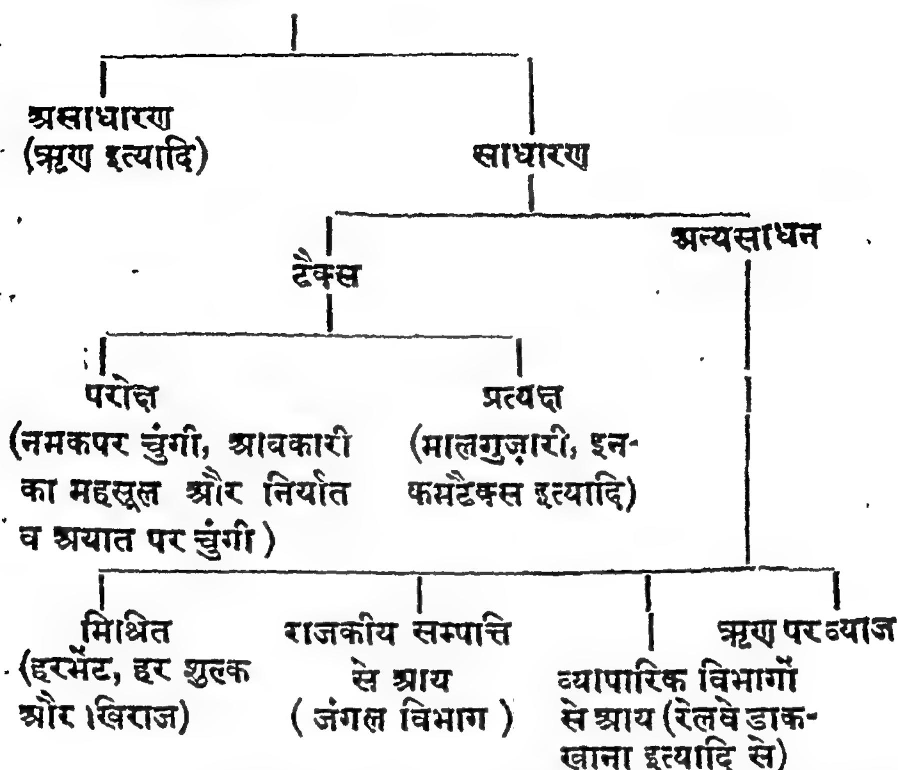
राष्ट्रीय आय व्यय

राष्ट्रीय आय व्यय

प्रत्येक संस्था को धन की आवश्यकता होती है। गवर्नमेंट भी एक संस्था है। उसके चलाने के लिये भी धन की ज़रूरत होती है। गवर्नमेंट कई प्रकार से समाज की भिन्न २ श्रेणियों को धन कमाने में सहायता देती है। इस दृष्टि से समाज द्वारा कमाये हुये धन में उसका भी अधिकार है। यदि गवर्नमेंट न हो, तो समाज की मशीन के पुर्ज़े चलने से रह जायें। इस लिये समाज के कामों को चलाने के लिये गवर्नमेंट का भी चलाना आवश्यक है। एक और दृष्टि से भी हमें गवर्नमेंट की सहायता करनी चाहिये। समाज के कई काम ऐसे हैं जिनको वैयक्तिक रूप से नहीं किया जा सकता। रास्तों का साफ़ करना, पुलों का बनाना, सर्वसाधारण के लिये विविध प्रकार की सुविधाओं की उपलब्धि इत्यादि ऐसे काम हैं जो यदि उनकी इच्छा पर छोड़ दिये जायें तो या तो वे पूरे न होंगे और या वे बुरी तरह से किये जायेंगे। इस लिये आवश्यक प्रतीत होता है कि समाज अपने प्रतिनिधि, गवर्नमेंट, द्वारा ऐसे कार्य कराये और उन पर होनेवाले खर्च की व्यवस्था करे। गवर्नमेंट इस खर्च के लिये रुपया कई प्रकार से इकट्ठा करती है। सरकारी जायदाद की आय, सरकारी व्यापारिक विभागों की खालिस आय, ऋणों पर ब्याज, ऋण, इधर उधर से मामूली रक़मों की बचत और टैक्स, इस प्रकार के कई साधन हैं जिनसे एक गवर्नमेंट अपना खर्च पूरा कर सकती है। ऋण एक ऐसा साधन है जिसको गवर्नमेंट कभी २ उपयोग में लाती है। इसको छोड़ कर बाक़ी साधनों को हम दो भागों में बांट सकते हैं—टैक्स और अन्य साधन। इन दोनों को समझना आवश्यक है।

टैक्स गवर्नमेंट की वह मांग है जो वह भिन्न २ लोगों या श्रेणियों से बाध्य रूप से अपनी साधारण सेवाओं के बदले वसूल

करती है। या ऐसा समझिये कि टैक्स ऐसी रक़म है जो बिना यह विचारे कि उनके देने से हमें लाभ होता है या नहीं, समाज के मेम्बर की हैसियत से, गवर्नमेंट हम से लेती है। उदाहरण के लिये रेल के टिकट की क़ीमत उस सेवा पर निर्भर है जो हम रेलवे से लेंगे। और यदि हम रेल की यात्रा न करें, तो गवर्नमेंट अंकारण ही हम से पैसे वसूल न करेगी। परन्तु गवर्नमेंट ने ऐसा प्रबन्ध कर रक्खा है कि हम कुछ न कुछ हर अवस्था में उसकी भेंट करने पर बाध्य हैं। यदि हम ज़िमींदार हैं, तो हम से ज़मीन का मामला वसूल कर लेगी, यदि हम सम्पन्न व्यापारी अथवा व्यवसायी हैं, तो हमें इनकमटैक्स के रूप में कुछ न कुछ गवर्नमेंट की भेंट चढ़ानी पड़ेगी। यदि हम साधारण गांव के रहनेवाले हैं, तो हमें चौकीदारा ही देना पड़ता है। नगर में हैं तो कमेटी कुछ न कुछ हम से अवश्य मांगेगी; और न सही जब दाल में नमक डालते हैं तो सरकार उस में से अपना कर निकाल लेती है, क्योंकि नमक बाज़ार में चुंगी देकर ही आता है। विदेश से आई हुई चीज़ें खरीदते समय भी हम उसके जेब कुछ पैसे डालते रहते हैं, क्योंकि उन चीज़ों को भारत में दाखिल होने की आज्ञा ही सरकारी चुंगी देने पर होती है। और इस चुंगी को वस्तुओं की लागत में जोड़ लिया जाता है। सारांश में किसी न किसी रूप में हमें गवर्नमेंट को टैक्स देने पड़ते हैं। सरकारी आय के साधनों के विभाग नीचे लिखे खाके से स्पष्ट हो जायेंगे।



इस खाके में टैक्सों के दो विभाग किये गये हैं; परोक्ष और प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष तो वे हैं जो सरकार उन लोगों से वसूल करती है जिन पर सीधा उन का वोझ पड़ता है। या ऐसा कहिये कि जिनको देनेवाला उनको आगे दूसरे लोगों से वसूल नहीं कर सकता, जैसे इनकमटैक्स या ज़मीन का मामला। और परोक्ष टैक्स वे हैं जो वसूल तो किये जाते हैं किसी से और अन्त में वोझ पड़ता है किसी और पर, जैसे आबकारी का महसूल शराब आदि के ठेकेदारों से लिया जाता है परन्तु वह निकलता है अन्त में उनको उपयोग में लाने वालों की जेबों से। आयात और निर्यात पर चुंगी भी इसी विभाग में अन्तर्गत है।

भारत में टैक्स

गवर्नमेंट को रुपये की सदा ज़रूरत रहती है। मिस २ देखो

की टैक्सप्रणाली एक ओर तो टैक्स सम्बन्धी आधुनिक विचारों का परिणाम है और दूसरी ओर उन के प्राचीन इतिहास की विरासत है। भारत में टैक्सों का वृत्तान्त मनुस्मृति या अर्थशास्त्र से विदित होता है। इसमें ज़मीन का मामला, महसूल चुंगी, इनकमटैक्स, और अन्य टैक्सों का वर्णन है। मुसलमानों ने भी आकर इस ही प्रणाली को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया। और अंगरेज़ों ने भी पहिले पहल इसी को चलाया। यही कारण था कि अंगरेज़ों के शासन के आरम्भ में ज़मीन का मामला सारी आय का लगभग आधा भाग था। मुसलमानों और हिन्दुओं के काल में (मुसलमानों के काल के विषय में तो हमें पूरा पता है इस लिये उनकी बावत निश्चित रूप से कहा जा सकता है) ज़मीन का मामला आय का सब से बड़ा साधन था। और स्वाभाविक रूप से वह वैसे ही सालों तक चला आया। इस समय ज़मीन की ख़ालिस आय का आधा हिस्सा ले लेना भी पुराने समय का स्मारक है।

वर्तमान अवस्था

भारत में आजकल टैक्स लगाने का अधिकार तीन श्रेणियों को प्राप्त है: भारत सरकार, प्रान्तिक सरकारें और स्थानीय संस्थायें। प्रान्तों को यह अधिकार नये सुधारों के अनुसार प्राप्त हुये हैं। इसके पहिले भारत सरकार और म्युनसिपल कमेटियों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को ही यह अधिकार प्राप्त था। इस लिये टैक्स-प्रणाली का अध्ययन करते समय इन तीनों के लगाये हुये टैक्सों पर ध्यान करना पड़ेगा।

अखिल भारतीय टैक्स

इस शीर्षक में अफ़ीम पर टैक्स, नमक पर टैक्स, आयात निर्यात पर चुंगी, इनकमटैक्स और सुपरटैक्स आ जाते हैं। और अन्य साधनों के शीर्षक में रेलों से आय, जंगलों से आय, तार व

डाक विभाग से आय, टेलीफ़ोनों से आय, सूद, टकसाल की आमदनी सम्मिलित हैं। इन सब पर दृष्टि डालने से पहिले एक अच्छे टैक्स की विशेषताओं का भी जानना आवश्यक है। वे ये हैं:—

१ टैक्स से आमदनी हो। बात तो साधारण मालूम होती है परन्तु कई बार लोग इसको भूल जाते हैं। १८१५ में इंगलैण्ड में ही कई एक टैक्स थे जिनसे आय पांच या दस पौंड से अधिक न थी। यह बात स्मरणीय है कि टैक्स की आय उस टैक्स के इकट्ठा करने के खर्च से काफ़ी अधिक होनी चाहिये। इस दृष्टि से म्यूनिसिपल कमेटियों का लगाया हुआ महसूल चुंगी सब से अधिक दोषपूर्ण है। कई बार उसे वसूल करने का खर्च आय से आधा होता है।

२ प्रत्येक टैक्स इस प्रकार का होना चाहिये कि हरएक आदमी को बिना किसी प्रकार के कष्ट के यह पता लग सके कि वह क्यों टैक्स देता है, कितना देना है और कब देता है। यहां के टैक्सों में से इन्कमटैक्स कदाचित, इस अंश में सब से अधिक दोषपूर्ण है। बहुत कम लोग इस की पेचीदगी को भलिभांति समझ सकते हैं।

३ टैक्स इस प्रकार का नहीं होना चाहिये कि लोग रुपये जमा करना छोड़दें और देश को घाटा रहे।

४ सारे टैक्स समूहरूप से ऐसे होने चाहियें कि किसी आदमी पर भी उस के सामर्थ्य से बढ़कर बोझ न पड़े।

५ टैक्स ऐसा होना चाहिये कि आवश्यकता पड़ने पर उस से अधिक व कम आय होसके। भारत में आयात और निर्यात पर महसूल इस का एक उदाहरण है।

६ जिन चीज़ों पर महसूल लगाया जाये और जिन समयों में टैक्सों की वसूली हो वे ऐसे होने चाहियें जिन से लोगों को बहुत कम दिक्कत हो। टैक्स लगाते समय लोगों के स्वभाव और रीतिरिवाज का ध्यान रखना आवश्यक है।

७ आय देश के खर्च के लिये पर्याप्त हो परन्तु उस के लिये गवर्नमेंट को कम से कम टैक्स लगाने चाहियें, ताकि लोगों को कष्ट न होने पावे। भारत के बजटों के समान पांच २ छः करोड़ की बचत स्पष्टरूप से इस सिद्धान्त के विरुद्ध है।

इन सिद्धान्तों को समझने के पश्चात् हमें भारत की आय के विविध साधनों का अध्ययन करना चाहिये।

अफ़ीम—

सब से पहिले अफ़ीम की आय पर हम विचार करते हैं। पोस्त की खेती सरकार से लाईसेन्स लेकर ही की जासकती है। और जितनी अफ़ीम निकलती है उस को एक निश्चित् दाम पर सरकार के हवाले करना पड़ता है। सरकार इस में से कुछ तो बाहर की गवर्नमेंटों की आवश्यकताओं के लिये समझौते के अनुसार उन के देशों में भेज देती है, और कुछ भारत में खपत के लिये आबकारी महकमे के द्वारा नीलाम की जाती है। बाकी भाग चीन को भेजा जाता है। चीन के साथ व्यापार कई झगड़ों का मूल हुआ है। भारतसरकार की वर्त्तमान नीति यह है कि जबतक चीनको अफ़ीमकी आवश्यकता है उस समय तक चीन को भारतकी अफ़ीम खरीदनेपर बाध्य करना चाहिये। इस विषये में यह ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि इस समय अफ़ीम की आय ३ करोड़ रुपये है यह धीरे २ कम हो रही है। १९१० और उस के पहिले तीन सालों में औसत आय ६½ करोड़ थी। आय का यह साधन अवश्य ही एक दिन जाता रहेगा और जितनी जल्दी यह जाये उतना ही अच्छा है।

नमक से आय।

१९२१-२२ में नमक से आय ६ करोड़ ७० लाख रुपये के लगभग हुई, यद्यपि बजट में ७करोड़ रुपयेका अनुमान लगाया गया था। योरुप के युद्ध से पहिले १९१३-१४ में यह आय ५ करोड़ १६

लाख ७६ हज़ार ५७५ रुपये थे। नमक पर टैक्स एक तो बाहर से आये हुए नमक पर आयात की चुंगी के रूप में लिया जाता है और दूसरे भारत में बनाये हुए नमक पर यहां ही वसूल कर लिया जाता है। इस समय महसूल का निर्ख सवा रुपये फ़ी मन है। इस वर्ष प्रस्ताव किया गया था कि उस को अढ़ाई रुपये फ़ी मन कर दिया जाये, परन्तु यह प्रस्ताव लेजिसलेटिव असेम्बली में गिर गया। नमक पर महसूल एक प्रकार से जनसंख्या के दरिद्र से दरिद्र भाग पर भी टैक्स है। और चूंकि यह जीवन के निर्वाह की एक आवश्यक वस्तु को महंगा करता है, इस लिये भारतीय राजनीतिज्ञों का दृष्टिकोण यही रहा कि इसे एक अत्यन्त छोटी रक़म पर रखा जाये। हम इतने दरिद्र हैं कि यदि नमक पर टैक्स बढ़ा दिया जाये तो बहुत से भारतवासी ऐसे हैं जो नमक के बिना या कम नमक खाकर गुज़ारा करेंगे। यही कारण है कि जब कभी नमक पर महसूल कम हुआ है उस की खपत अनुपात से अधिक बढ़ गई है। श्री० गोखले ने १६०६ में बजट पर वक्तृता देते हुए ऐसी वस्तुओं पर महसूल के विषय में एक सिद्धान्त स्थिर किया था कि जीवननिर्वाह के पदार्थों से महसूल के निर्ख को कम कर और उन की स्वाभाविक खपत को बढ़ा कर महसूल वसूल करना चाहिये।

इन्कमटैक्स।

इस शीर्षक के नीचे १६२१-२२ में १७ करोड़ ६० लाख रुपये की आय हुई। यह टैक्स दो हज़ार रुपये वार्षिक से ऊपर की सब आमदनियों पर (कृषिसम्बन्धी आय को छोड़ कर) लगाया जाता है। २००० रुपये से ४६६६ रुपये की आमदनी पर पांच पाई फ़ी पांच रुपये के हिसाब से इन्कमटैक्स लगाया जाता है। इसके बाद जैसे आय बढ़ती जाती है वैसे ही इनकमटैक्स का निर्ख भी बढ़ता जाता है, यहां तक कि दो लाख रुपये पर डेढ़ आना प्रति रुपया टैक्स लगाया जाता है। इस टैक्स का इतिहास

भी विचित्र है। आरम्भ में एक नया टैक्स होने के कारण इस का बड़ा विरोध हुआ। जब लाईसेन्स के रूप में इसका पहिलेपहल प्रस्ताव हुआ तो यूरोपीयन लोगों ने इसका भारी विरोध किया और सरकार को अपना प्रस्ताव लौटाना पड़ा। अस्तु, जब लग ही गया, तो बस एक ही निर्ख से दो हज़ार रुपये (और अन्त में १००० रुपयेकी आय से लेकर १० लाख या उससे भी अधिक आय पर एक ही निर्ख वह वसूल किया जाने लगा। १९१६ में युद्ध की आवश्यकताओं ने सरकार को इस टैक्स का निर्ख क्रमशः बढ़ाने पर बाधित किया। आजकल का निर्ख योरोपीयन युद्ध से उत्पन्न कठिनाइयों का ही परिणाम है। इनकमटैक्स एक प्रकार से देश की आय का नमूना है। युद्ध से पहिले भारत में इस के द्वारा केवल ३ करोड़ की आय थी और ७५० आदमियों में से केवल एक आदमी इनकमटैक्स देता था। इसका अभिप्राय यह है कि आबादी के $\frac{१}{७५०}$ भाग की आय एक हज़ार रुपये से ऊपर थी। इस समय यद्यपि इस टैक्स से आय बहुत बढ़ गई है, परन्तु उसका कारण बढ़ा हुआ निर्ख है।

सुधारों की आवश्यकता।

भारत में उपार्जित धन पर, चाहे वह इंगलैण्ड में खर्च किया जाये या मेसोपोटामियां में, हर अवस्था में इनकमटैक्स उचित और सामर्थ्यानुसार होना चाहिये। अन्य देशों की संयुक्त मूलधन की कम्पनियों से, जिनकी शाखायें भारत में हैं, यहां की कमाई पर इन्कमटैक्स लेना चाहिये। विलायत में मिलनेवाले वेतन और पेन्शनों पर भी कर लगाया जाना चाहिये।

निर्यात व आयात पर चुंगी।

इसके द्वारा १९२१-२२ में ३३ $\frac{१}{२}$ करोड़ रुपये की आय हुई। १९१३-१४ में इस शीर्षक से ११३३७३३०० रु० की आय हुई थी।

आयात और निर्यात की चुंगी पर हम भारत की आर्थिक नीति के अध्याय में विचार करेंगे। यहां इतना कह देना उचित होगा कि अब तक इस चुंगी का उद्देश्य केवल मात्र गवर्नमेन्ट के लिये रुपये प्राप्त करना रहा है। परन्तु इस का इतिहास विचित्र है। सब से आवश्यक वस्तु, जिस पर चुंगी लगती है कपड़ा है। भारत कपड़े को बहुत बड़े परिमाण में लंकाशायर से मंगवाता है। चूंकि आयात पर चुंगी एक प्रकार से वस्तुओं की खपत पर चुंगी है, इस का अभिप्राय यह है कि आयात पर चुंगी के लगने से चीज़ों का दाम बढ़ जाता है और स्वाभाविक तौर पर उनकी बिक्री में कमी हो जाती है। इस लिये लंकाशायर सर्वदा भारतमन्त्री या ब्रिटिश सरकार पर ज़ोर देकर अपने कपड़े के निर्यात के लिये कई प्रकार की रिआयतें प्राप्त करता रहा है। ग़दर के पश्चात घाटे को पूरा करने के लिये चुंगियां बढ़ानी पड़ी थीं। १८७५ में अवसर मिला कि उन को कम किया जाये। उस समय रुई के कपड़े पर ५ प्रतिसैंकड़ा चुंगी लगाई गई परन्तु लंकाशायरवाले इस को भी न सहन कर सके। भारतमन्त्री पर ज़ोर डलवा कर भारत में आनेवाली उत्तम रुई पर पांच रुपये प्रतिसैंकड़ा चुंगी लगवा ली, ताकि भारत के कारखाने भी लगभग उतना ही अधिक दाम देने पर बाध्य हों जितना कि लंकाशायर। इस के चार साल बाद ही से लार्ड लिटन ने, जो कि इन बातों में विलायत से विशेष आज्ञायें लेकर आये थे कुछ ख़ास प्रकार के कपड़ों पर से चुंगी कम करदी। परन्तु लंकाशायरवाले इस पर संतुष्ट न हुए और आन्दोलन करने लगे कि सारी चुंगी माफ़ कर दी जाये। लार्ड लिटन के पूर्वाधिकारी लार्ड नार्थब्रूक ने इसी बात पर त्यागपत्र दे दिया। परन्तु लार्ड लिटन इस ढांचे के आदमी न थे। रुचिकर बात यह है कि उस की अपनी कौंसल इस चुंगी को माफ़ करने के विरुद्ध थी। परन्तु नहीं, आपने अपने विशेष अधिकारों को उपयोग में लाकर इस प्रस्ताव को कार्यकारिणी कौंसल में पास करा लिया। इस के

पश्चात जब यह प्रस्ताव विलायत पहुंचा, तो वहां भारतमन्त्री की कौंसल ने भी इसे स्वीकार करने में आनाकानी की और भारतमन्त्री को अपनी अन्तिम वोट इस प्रस्ताव को पास कराने के लिये प्रयोग में लानी पड़ी। लंकाशायर ने हौस आफ़ कामन्स में ज़ोर डलवा कर एक प्रस्ताव इस आशय का पास करवा दिया था कि जो यह ५ प्रतिसैंकड़ा की चुंगी है वह एक प्रकार से भारत के उद्योगधन्दों को लाभ पहुंचाती है। इस लिये जब कभी भारत के बजट में गुंजायश हो, इसे दूर कर देना चाहिये। परन्तु लार्ड लिटन ने जब यह चुंगी माफ़ की, तब भारत में अकाल पड़ा हुआ था, अफ़गानिस्तान के साथ युद्ध जारी था और बजट में घाटा था। अस्तु, अन्त में लंकाशायर का कहना माना गया। १८८२ में निर्यात पर सब चुंगियां नमक और शराब को छोड़ कर, हटाई गईं। १८९४ में जब रुपये की क़ीमत हटजाने के कारण बजट में बहुत भारी घाटा आगया, तो डरते २ उसी साल फिर कपड़े के आयात पर ५ प्रतिसैंकड़ा चुंगी लगाई गई। और लंकाशायर को प्रसन्न करने के लिये इसी निर्ख पर भारत में बनने वाले इस प्रकार के कपड़े पर जो लंकाशायर से मुक़ाबला कर सकता था चुंगी लगाई। १८९६ में फिर भारत की भलाई और उन्नति की लंकाशायर के लाभ के लिये बलि चढ़ाई गई। आयात पर चुंगी तो ५ से ३ प्रतिसैंकड़ा कर दीगई। परन्तु भारत में बने हुए हर प्रकार के कपड़े पर अब की बार चुंगी लगाई गई, चाहे वह लंकाशायर से मुक़ाबला कर सकता था या नहीं। १९१६ में युरोपीयन युद्ध ने भारतसरकार को अपनी आय बढ़ाने पर बाध्य किया। इस लिये आयात का साधारण निर्ख ५ से ७½ प्रतिसैंकड़ा कर दिया गया। और कपड़े को इसी शीर्षक में सम्मिलित कर दिया गया। अब की बार भारत में बने हुए कपड़े पर चुंगी नहीं बढ़ाई गई। वह ३½ % ही रह गई। १९२१ में विदेशी कपड़े पर चुंगी ११ प्रतिसैंकड़ा कर दी गई और भारत में बने हुए कपड़े

पर वह पहिले निर्ख पर ही रही। १९२२ में सरकार ने प्रस्ताव उपस्थित किया कि भारत में बने हुए और बाहर से आने वाले दोनों प्रकार के कपड़ों पर चुंगी समान रूप से बढ़ादी जाये-आयात पर चुंगी तो १५ प्रति सैंकड़ा हो जाये और देश में बने हुए कपड़े पर ७½ प्रति सैंकड़ा। प्रस्ताव उपस्थित करते समय तो सरकार ने इस बात की खूब घोषणा की कि यह केवल घाटे को पूरा करने के लिये है परन्तु असेम्बली ने भारत में बने हुए कपड़े पर चुंगी लगाने से इन्कार कर दिया। इस पर सरकार ने कपड़े पर आयात चुंगी भी ११ प्रति सैंकड़ा पर रहने दी यद्यपि चुंगी का साधारण निर्ख १५ % कर दिया गया।

आयात और निर्यात पर चुंगी भारत में एक ऐसा टैक्स है जिस को इच्छानुसार घटा बढ़ा कर बजट की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। ज्यों २ हमारे खर्च बढ़ते जायेंगे, हमें अधिक टैक्सों की आवश्यकता होगी। इस ज़रूरत को पूरा करने के लिये इस शीर्षक से पर्याप्त आय हो सकती है। परन्तु इस के विरुद्ध कहा जाता है कि यह चीज़ों को महंगा कर देता है। यह ठीक है। परन्तु जब लोगों ने टैक्स देना ही है, तो उसके लिये अच्छा है कि वे उसे आयात पर चुंगी के रूप में दें। खर्च तो हर अवस्था में टैक्सों के द्वारा ही निकलेंगे। निर्यात चुंगी इस समय जूट, खालों और चमड़े पर है।

रेलवे।

लगभग ५० करोड़ रुपये के घाटे के पश्चात भारत की रेलें १८९९ के पश्चात लाभकारी हुई थीं। तदनन्तर १९०७-८ में रेलों से घाटा हुआ और अब फिर १९२१-२२ में ९½ करोड़ रुपये का घाटा पड़ गया। इस साल के बजट में यात्रियों और असबाब का किराया बढ़ा कर आशा की जाती है कि रेलवे से ४½ करोड़ रुपये के लगभग लाभ होगा। जैसाकि पहिले कहा जा चुका है भारत में रेलों

के बनाने में बहुत जल्दी से काम लिया जाता रहा है और इन पर अन्धाधुन्द रुपये खर्च किये गये हैं। १८५०-७० तक रेलों के बनाने का यह तरीक़ा रहा कि इंगलैएड की संयुक्त मूलधन वाली कम्पनियां भारत सरकार से ठेका कर लेती थीं। वह स्वयमेव रेलों को बनातीं और लाती थीं। परन्तु गवर्नमेंट कुल पूंजी पर पांच रुपये प्रति सैंकड़ा सूद की ज़िम्मेवारी अपने ऊपर लेती थी। यदि चलाने से इतना लाभ न हुआ, तो गवर्नमेंट टैक्सों के रुपये में से सूद कम्पनियों को दे देती थी। और यदि बचत उससे अधिक हो जाये तो उस से ऊपर जितना लाभ होता था वह कम्पनियों और सरकार के बीच में आधा २ बांट लिया जाता था। पच्चीस साल के पश्चात कम्पनियों को रेलें सरकार के हवाले करनी होती थीं, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है। इस प्रणाली के अनुसार न तो रेलों में लाभ हुआ और उनके बनाने में बहुत रुपये खर्च होगये। इस लिये १८७० में सरकार ने स्वयम ऋण लेकर रेलें बनानी आरम्भ कर दीं। अब रेलें इतनी जल्दी नहीं बन सकती थीं जितनी जल्दी कि विलायत के कारख़ानेदार और पूंजीपति चाहते कि वे बनें। इस १८८० से फिर गारंटी-प्रणाली आरम्भ कर दी गई।

युद्ध के दिनों में विलायत से रेलों के लिये सब प्रकार की सामग्री नहीं आ सकती थी। इस लिये उन दिनों रेलों पर बहुत कम ख़र्च हुआ। १९१९-२० में इस त्रुटि को पूर्ण करने का प्रयत्न किया गया, परन्तु फिर भी जितना रुपया बजट किया गया था उतना ख़र्च न हुआ। १९२०-२१ में २२। रुपये के लिये बजट किया गया था। १९२१ में रेलवे कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसने ५ साल के लिये ३० करोड़ रुपये वार्षिक व्यय की सिफ़ारिश की। लेजिसलेटिव असेम्बली ने इस बात को मान लिया और ३० करोड़ रुपये स्वीकृत होगये। परन्तु असेम्बली ने साथ ही यह शर्त लगा दी कि इस रुपये का अधिक से अधिक भाग भारत में ख़र्च किया जावे। युद्ध के चार वर्षों के विश्राम के पश्चात यह आवश्यकता तो

मालूम होती है कि रेलों पर इतना ख़र्च किया जाये परन्तु इसका लाभ तभी है जब इससे भारत के उद्योगधन्दों को भी लाभ पहुंचाया जाये। सारी रेलों को सरकार के आधीन करने के सम्बन्ध में भारत का सार्वजनिक मत इस पक्ष में है और इस बात पर ज़ोर दे रहा है कि रेलवे कम्पनियों से लेकर सरकार की आधीन चलाई जायें। जब रेलवे कमेटी ने रेलों के प्रबन्ध के विषय में चन्द सिफ़ारशें की हैं और इस प्रश्न पर प्रधान और आधे मेम्बर एकमत थे और आधे विरुद्ध। यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि यदि सब रेलें सरकार के आधीन काम करना आरम्भ कर दें तो इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि वे पूरे लाभ पर काम करें और अपने व्यापारिक स्वरूप को न खो बैठें। रेलवे सम्बन्धी एक और प्रश्न है और वह रेलवे के लाभ को ख़र्च करने का है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, ५२३ करोड़ रुपये के लगभग भारत के टैक्स देनेवाले रेलों को चलाऊ बनाने के लिये दे चुके हैं। और यह सर्वथा उचित मालूम होता है कि वे अब इस बात की मांग करें कि रेलों से जो लाभ हो वह उनके भाग में आये। रेलवे कमेटी ने इस की बात सिफ़ारिश की थी कि रेलों का साधारण बजट से कोई सम्बन्ध न रखा जाये और जो लाभ इनसे हो, वह उनको उन्नत बनाने के लिये ख़र्च किया जाये। जब लेजिसलेटिव असेम्बली की एक कमेटी ने इस बात पर ध्यान दिया तो उस ने अस्थाईरूप से वर्तमान प्रबन्धको जैसे का तैसा रखने की सम्मति दी। यह मामला इस कारण से अधिक पेचीदा बन जाता है कि लेजिसलेटिव असेम्बली को सारे बजट पर अधिकार नहीं। फौजी बजट बिलकुल भारतसरकार की इच्छा पर अवलम्बित है। इस कारण असेम्बली के भारतीयसदस्यों का यह मत है कि यदि रेलवे बजट को आम बजट से अलग कर दिया जाये, तो यह अनिवार्य है कि गवर्नमेंट के अन्य विभागों का खर्च निभ नहीं सकेगा, जिससे नये टैक्स लगाने पड़ेंगे या खर्च कम

करना पड़ेगा। चूंकि नये टैक्स लगाना कुछ कठिन बात है इस लिये निश्चित रूप से खर्च में कमी होगी और इस बात के लिये वे ज़ोर भी लगा रहे हैं। इस कारण कुछ लोगों का मत है कि रेलवे बजट को साधारण बजट से अलग कर दिया जाये। परन्तु जब असेम्बली को पूरे बजट पर अधिकार हो जायेगा, तो व्यय कम करने के इस उपाय को उपयोग में लाने से कोई लाभ नहीं होगा और टैक्स का स्वरूप बदल जायेगा। उस समय प्रश्न यह होगा कि आया लोगों से किसी और उपाय से टैक्स लिया जाये, या रेलवे पर लाभ निकाल कर। यदि रेलवे के लाभ को सर्वसाधारण की असुविधाओं को दूर करने या किराया कम करने या उद्योग-धन्दों को उन्नत करने के लिये लगाया जाय, तो यह इतना आपत्ति-जनक नहीं होगा।

इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि यह प्रश्न संदिग्ध है कि आया भारत को रेलों से लाभ हो रहा है या नहीं। बजट से तो इन से लाभ प्रतीत होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि यदि रेलें यात्रियों को वही सुविधायें पहुंचायें जिन का ये वचन देती हैं (जैसे हरएक दर्जे के खाने में उतने ही आदमी बैठें जितनों की आज्ञा है और बचे हुओं के लिये रेलवे और गाड़ियों का प्रबन्ध करें) तो क्या तिस पर भी रेलें लाभ पर काम करेंगी? हमारी सम्मति में यह उचित होगा कि रेलवे उन सुविधाओं को पहुंचाने का विचार करे जिनका वे वचन देती हैं।

तार और डाक विभाग—

इस विभाग से भारत सरकार को १९१३-१४ में ५३८८७७८५ रुपये की आय हुई और ४९३६४७६० रुपये का खर्च। दूसरे शब्दों में उस से ३४२३०२५ रुपये का लाभ हुआ। १९२१-२२ में इस विभाग में ९० लाख रुपये का घाटा पड़ा। नये साल के दो पैसे के कार्ड और एक आने का लिफ़ाफ़ा करके ८० लाख रुपये की बचत का अनुमान किया गया है। यह स्मरण रखना चाहिये कि डाक

और तार विभाग एक व्यापारिक विभाग है, जिसका प्रबन्ध गवर्नमेन्ट लोगों के लिये करती है। यह आवश्यक है कि हर एक व्यापार के समान यह लाभकारी हो या कम से कम इस में घाटा न पड़े। इसलिये इस के महसूल को बढ़ाना उचित हो सकता है। परन्तु यह उसी समय जब इस बात का निश्चय हो जाय कि खर्च कम करने के सब साधन उपयोग में लाये जा चुके हैं।

यह हैं भारतसरकार के आय के बड़े २ साधन। १९२१-२२ की सब आय १०८०००००० रुपये थी और १९१३-१४ में ११७८१०७७२० रुपये। इस कमी का कारण यह है कि ज़मीन पर मामला, नहरों की और आबकारी-विभाग की आय, स्टेम्पों की आय, सब की सब प्रान्तिक गवर्नमेन्टों के हाथ में है।

प्रान्तों की आय के साधन

१। नहरें—

१९२०-२१ अन्तिम वर्ष था जब कि नहरों की आय भारतसरकार के अधीन थी। उस वर्ष इन से ८९१७८००० रुपये की आय हुई और खर्च ६५७२१००० रुपये का। अर्थात् उनसे २३४५७००० रुपये का ख़ालिस लाभ हुआ। गवर्नमेन्ट के व्यापारिक कामों में से ये सब से अधिक लाभकारी हैं। १९१९-२१ में नहरों में लगाये हुए रुपये का सूद काटकर मूलधन पर छैः रुपये प्रति सैकड़ा से अधिक ख़ालिस लाभ हुआ। इस लाभ में ज़मीन पर वह मामला भी सम्मिलित है जो नहरों के कारण आता है।

२। आबकारी विभाग—

१९२०-२१ में इस विभाग से २०३१०९००० रुपये की आय थी। इस विभाग की आमदनी शराब, भंग, चरस इत्यादि मादक द्रव्यों के लाईसेंस और ठेकों द्वारा होती है। यह आय बहुत वेग से बढ़ रही है और स्वाभाविक

रूप से भारतवासी इस बढ़त के विरोधी हैं। बढ़ी हुई आय का अभिप्राय यह है कि लोग इन वस्तुओं को अधिक उपयोग में लाते हैं, जो किसी प्रकार से भी संतोषजनक बात नहीं होसकती। अब यह विभाग न केवल प्रान्तिक गवर्नमेन्टों के अधीन होगया है परन्तु यह मन्त्रियों के हाथ में भी है, जो कौंसलों और लोकमत के सम्मुख उत्तरदायी हैं। हर स्थान में लोगों ने अब इसी विभाग में सुधारों की मांग की है और भिन्न २ प्रान्तों में कौंसल की कमेटी ने इस प्रश्न पर विचार किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मादक द्रव्यों और विशेषकर शराब की खपत को कम करने के लिये उपाय सोचे जारहे हैं। यह ठीक है कि पूर्ण मनाही का यह अभिप्राय होगा कि इतनी आय छोड़नी पड़ेगी। परन्तु मनुष्य रुपये से अधिक कीमती है और यदि पूर्ण मनाही के द्वारा लोगों को शराब से बचाया जासके तो यह त्याग व्यर्थ न होगा। कहा जाता है कि शराब की बिक्री को कम करने का परिणाम यह होगा कि लोग गैर क़ानूनी साधनों द्वारा शराब बनाना आरम्भ कर देंगे। हमारा विचार है कि यदि गवर्नमेन्ट प्रयत्न करे तो इस अनुचित काम को रोकना कठिन न होगा।

स्टाम्प—

स्टाम्पों की आय भी अब प्रान्तिक गवर्नमेन्टों के अधीन है। १९२०—२१ में इस से ११२६११५०० रुपये की आय समग्र देश से हुई। यह आय उन स्टाम्पों से होती है जो अदालतों में दावे करने या अन्य अदालती सेवाओं के बदले में लगाने पड़ते हैं। भिन्न २ व्यापारिक सौदों पर लगे हुए स्टाम्पों पर की आय भी इस में सम्मिलित है।

ज़मीन का लगान—

यह भी अब प्रान्तिक गवर्नमेन्टों के अधीन है। सब टैक्सों से यह टैक्स निराला है, क्योंकि इस टैक्स को लगाने के लिये

व्यवस्थापक सभा की अनुमति आवश्यक नहीं और सब कुछ प्रबन्ध करने वाले अफ़सरों की इच्छा पर निर्भर है। भारतसरकार के १९१९ के क़ानून पर जो हौस आफ़ लार्डस और हौस आफ़ कामन्स की संयुक्त कमेटी बैठी थी। उसने इस बात की सिफारिश की थी कि ज़मीन पर मामला भी नियमानुसार बजट किया जाये और जब कभी यह बढ़ाया जाये तब व्यवस्थापक सभा की अनुमति ली जाये। अभी तक इस विषय में कुछ नहीं हुआ।

ख़र्च।

फ़ौजी ख़र्च—

१६२१-२२ में १०८ करोड़ रुपये की आय और १४२ करोड़ के ख़र्च में से फ़ौजी ख़र्च ६५ करोड़ रुपये था। दूसरे शब्दों में यह ख़र्च आय का ६२ प्रति सैंकड़ा और ख़र्च ४६ प्रति का सैंकड़ा हिस्सा था। १६१३-१४ में यह ख़र्च ३२ करोड़ रुपये के लगभग था और कुल आय के २५ प्रति सैंकड़ा के लगभग था। फ़ौजी ख़र्च की अधिकता भारत के बजट का एक नियामित अंश बन गई है। नहरों के बनने से पहले भारत का बजट वर्षा की एक बाज़ी थी। विनिमय निष्पत्ति के झगड़ों के दिनों में यह रुपये की कीमत का जूआ था। और अब दो तीन वर्षों से यह सीमाप्रान्त के ख़र्च का जूआ बन रहा है। मज़े की बात यह है कि नई कौंसलों को मिलिटरी बजट पर आंख उठाकर देखने का अधिकार नहीं। जैसे कि पहले कहा जाचुका है भारत के ऋण का एक बड़ा भाग उन युद्धों के कारण से पैदा हुआ था जिनके आरम्भ करने या समाप्त करने में भारतवासियों का कोई भाग नहीं था। यदि भारत ने एक सम्पन्न देश के समान जीवन व्यतीत करना है तो यह आवश्यक है कि इस बढ़े हुए फ़ौजी ख़र्च को कम किया जाये और लोगों के प्रतिनिधियों को इसका पूर्ण अधिकार दिया जाये। इस सम्बन्ध में नीचे लिखे सुधार किये जा सकते हैं।

१—पर्शिया की खाड़ी और भारत से बाहर के स्थानों की रक्षा का ख़र्च भारत के कंधों से हटा दिया जाये।

२—भारत की फ़ौज की संख्या को कम किया जाये और यह संख्या उसकी आवश्यकताओं का ध्यान करके निश्चित की जावे, न कि इङ्गलैंड की आवश्यकताओं का।

३—गोरे सिपाहियों के स्थान पर भारतीय सिपाही और गोरे अफसरों के स्थान पर भारतीय अफसरों को नियुक्त करने की नीति आरम्भ की जाये। एक गोरा सिपाही एक भारतीय की अपेक्षा आठ गुना महंगा पड़ता है।

४—फ़ौजी विभाग और रसद्-विभाग की नये ढांचे पर रचना की जाये ताकि खर्च कम हो। श्रीयुत शिवस्वामी ऐय्यर ने इस प्रकार से ५ करोड़ की बचत का अनुमान लगाया था।

५—जैसा कि पहिले कहा जाचुका है बर्तानिया का युद्ध विभाग भारत से सिपाहियों को भर्ती करने का खर्च ले लेता है, परन्तु जब ये सिपाही भारत में शिक्षण पाकर विलायत में योग्य रिज़र्व सिपाही बन जाते हैं तो इसके लिये बर्तानिया एक पाई तक नहीं देता। यही नहीं प्रत्युत इनका सब खर्च भारत के सिर पर पड़ता है। सर जार्ज वाईट, भारत के प्रधान सेनापति ने स्वयम् इस बात का वचन दिया था कि भारत को बहुतसे ऐसे खर्च सहन करने पड़ते हैं जो वास्तव में ब्रिटेन के लाभ के लिये हैं। यह आवश्यक है कि इंगलैंड और भारत के बीच में खर्च का निर्णय किया जाये, ताकि भारत को निष्प्रयोजन ही ब्रिटेन के लिये खर्च करना न पड़े।

६—फ़ौजी विभाग के हेड आफ़िस एक स्थान पर कर दिये जायें। कहा जाता है कि यदि ये दफ्तर सर्वदा के लिये देहली में रहा करें तो इसके वर्तमान बजट में २ करोड़ रुपये की बचत हो सकती है।

ऋण पर सूद—

ऋण का विवरण भारत राष्ट्रीय ऋण नामक अध्याय में दिया जायेगा। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि १९१३-१४ में इस में २१ करोड़ रुपये का खर्च था। १९२०-२१ में यही खर्च २२ करोड़ रुपये तक पहुंच गया।

बजट के शेष अंगों पर विचार करना आवश्यक नहीं है। तार व डाक विभाग और नहर विभाग के खर्चों के विषय में पहिले लिखा जा चुका है। शेष व्यय विविध सिविलविभागों का है और कुछ टैक्सों के इकट्ठा करने का खर्च है। १९२१—२२ में कुल खर्च १४२½ करोड़ के लगभग था।

टैक्सों का बोझ—

टैक्सों के अंकों को लेकर साधारण रूप से यह कहा जाता है कि भारत में टैक्सों का बोझ संसार भर से कम है। बात बहुत सरल है। सारे टैक्सों को जन-संख्या पर भाग देने से जो परिणाम होगा उसको औसत टैक्स कहा जा सकता है। परन्तु ऐसा करते समय पहिले तो अंकों में कुछ अशुद्धियां करदी जाती हैं। बहुतसे अंगरेज़ लेखक इस गणना में ज़मीन पर मामले को टैक्सों में सम्मिलित नहीं करते और इस प्रकार से यह औसत कम निकलती है दूसरे यह औसत कुछ अर्थ नहीं रखती। यदि एक दरिद्र मनुष्य जिस की आय दस रुपये मासिक है, किसी को एक रुपया दे और एक अमीर मनुष्य, जिसकी आय १००)रुपये मासिक है, पांच रुपये दे, तो इस १ और ५ के अंकों को लेकर इस परिणाम पर पहुंचना कि अमीर मनुष्य बहुत उदार है निरर्थक है। जिस बात को जानने की आवश्यकता है वह यह है कि इस टैक्स का कुल आय से क्या अनुपात है और कुल आय क्या है। इस प्रकार देखने से ही इन अंकों का ठीक अर्थ निकल सकता है। जब हम इस प्रकार से इन अंकों का अध्ययन करते हैं तो हमें मालूम होता है कि हमारे टैक्सों को हमारी आय से वही अनुपात है जो विलायत के टैक्सों का विलायत की कुल आय से अनुपात है।

हमारे खर्च—

टैक्सों का कम व अधिक होना अपने आप कोई अच्छी या बुरी बात नहीं है। तो उन टैक्सों के खर्च का यदि इन्हीं टैक्सों को

बढ़ा दिया जाये और फिर शिक्षा, स्वास्थ्य रक्षा या अन्य ऐसे उपयोगी कामों पर खर्च किया जाये, तो किसी मनुष्य को आपत्ति न होगी। भारत में जिस बात पर आपत्ति की जाती है वह एक तो यहां के खर्च का दर है, और दूसरे आय और व्यय का लोगों के प्रतिनिधियों के अधीन न होना। गत चार वर्षों से गवर्नमेन्ट को घाटा पड़ रहा है, जो ९० करोड़ रुपये के लगभग है। इस बात की बहुत आवश्यकता है कि हर प्रकार के खर्चों को लोगों के प्रतिनिधियों के अधीन कर दिया जाये और खर्चों को कम करने का पूर्ण प्रयत्न किया जाये। इस विषय में हम कुछ उपाय फ़ौजी खर्च के शीर्षक के नीचे बता चुके हैं और कुछ वार्षिक निकास के अध्याय में, कुछ और उपाय हम नीचे देते हैं।

१। हिसाब की जांच के लिये एक अकौंटेन्ट जनरल हो जो सीधा लेजिस्लेटिव असेम्बली को अपनी रिपोर्ट पेश करे। यह ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जिसका गवर्नमेन्ट से किसी रूप में कोई सम्बन्ध न हो।

२। भारत के भिन्न २ विभागों में अन्य पदाधिकारियों के वेतन बहुत अधिक हैं। भारतमंत्री का वेतन वाइसराय के वेतन से ¼ भाग से भी कम है। यदि यह मान भी लिया जाये कि उच्च पदों पर अंगरेज़ अफ़सर रखने के लिये अधिक वेतन देना चाहिये, तो भी वर्तमान वेतन बहुत अधिक हैं। परन्तु अब विविध पदों के वेतन उन अंकों पर निश्चित करने चाहियें जिन पर योग्य भारतवासी उन के लिये मिल सकें। वेतनों के अतिरिक्त अंगरेज़ अफ़सरों को आजकल की तरह समुद्र पार होने का भत्ता मिल सकता है।

३। निरीक्षकों की संख्या भी यहां बहुत ज्यादा है। सुधारों के कारण तो उन प्रान्तों में जहां गवर्नर और तीन मेम्बर काम कर रहे थे अब एक गवर्नर और छै मेम्बर तक लगा दिये गये हैं। और भी कई नये पद निकलते रहते हैं। मद्रास प्रान्त में कमिश्नर नहीं, परन्तु वहां कभी किसी प्रकार का झगड़ा नहीं पड़ा है। अब

नमक तथा मिट्टी का तेल हैं तथा वहां से आनेवाले पदार्थों में मुख्यकर ऊन तथा कच्चा रेशम, फल तथा खालें हैं। निम्नलिखित देशों से भारत का स्थलमार्गद्वारा व्यापार होता है।

अफ़ग़ानिस्तान—

यद्यपि प्राकृतिक कठिनाइयों के अतिरिक्त अब तक शासकों द्वारा भी अड़चनें डाली जाती थीं। यथा नील के ४०० पौंड पर, जो कि एक ऊंट का भार समझा जाता था, २५० से ३६० तक काबुली रुपये महसूल में लिये जाते थे। तो भी नैपाल को छोड़ कर स्थलमार्ग से विदेशी व्यापार सब से अधिक इसी से होता है। भारत से अफ़ग़ानिस्तान के व्यापार के मुख्य तीन रास्ते हैं— (१) भारत से काबुल को ख़ैबर दर्रे तथा जलालाबाद-द्वारा। (२) भारत से ग़ज़नी तथा क़न्धार को गोमलपास द्वारा। (३) भारत से क़न्धार को केटा द्वारा।

भारत के सामान को अफ़ग़ानिस्तान लेजानेवाले तथा वहां से भारत को सामान लानेवाले पोविन्दा कहलाते हैं। ये पतझड़ में वहां से आते हैं तथा बसन्त में यहां से अफ़ग़ानिस्तान की मण्डियों के लिये सामान लेकर चले जाते हैं।

अफ़ग़ानिस्तान से प्रायः हींग, सूखे तथा ताजे फल, घी, रेशम, ऊन, पोस्तीन, बड़ी तथा छोटी खालें तथा क़ालीन भारत में आते हैं। तथा भारत से रुई के कपड़े, सूत, चमड़ा, धातु के बने बर्त्तन, खांड तथा चाय वहां जाते हैं। १९१८-१९ इस व्यापार का कुल मूल्य ४८२१४००० रुपया था। जिस में से १७०७००० रुपये का माल हिन्दुस्तानमें आया तथा ३०३०७००० का माल यहां से गया। १९२१ की नयी सन्धि के अनुसार आयात निर्यात पर से महसूल उठ जाने से इस व्यापार की फलने फूलने की संभावना है।

दीर, स्वात, बजौर—

यहां से बहुत करके अनाज, दालें, छोटी तथा बड़ी खालें, ईंधन तथा शहतीर आदि पदार्थ आते हैं, तथा भारत से कपड़े, सूत,

अनाज तथा मसाले इत्यादि वहां जाते हैं। १९१४—१५ में इस व्यापार का मूल्य १६५४२००० रुपये था। पर युद्ध के कारण १९१६-१७ यह घटकर ५५६८००० होगया, तथा १९१८—१९ वही व्यापार फिर बढ़कर १३६९०४००० तक पहुंच गया।

मध्य एशिया—

इसका व्यापार प्रायः लद्दाख द्वारा होता है। यह व्यापार धीरे २ बहुत बढ़ता जारहा है। १९१४-१५ जहां केवल इस व्यापार का मूल्य ४६५४००० रुपये था, वहां १९१८—१९ में यह व्यापार बढ़कर १०६४१००० रुपये का होगया। मध्य एशिया से मुख्यकर चरस, कच्चा रेशम, तथा ऊन भारत में आती है तथा यहां से रुई के कपड़े तथा पक्का रेशम इत्यादि बाहर जाते हैं।

ईरान—

यह व्यापार सिन्ध तथा सीस्तान द्वारा होता है, तथा परिमाण में बहुत थोड़ा है, और न इस के बढ़ने ही की आशा है। ईरान से भारत में रेशम, ऊन तथा खजूर आती है और यहां से कपड़ा तथा चमड़ा इत्यादि पदार्थ वहां जाते हैं। १९१८-१९ में इस व्यापार का मूल्य ४१७१००० रुपये था।

नेपाल—

स्थलमार्ग से जिन जिन देशों के साथ भारत का व्यापार होता है, उन में पहिला नम्बर नेपाल का है। १९१४—१५ में व्यापार स्थलमार्ग के कुल व्यापार का ⅕ था। चावल, धान, सरसों, तोरिया तथा अन्य तेलहन, रंगने का सामान, खच्चर, शहतीर, कस्तूरी, सुहागा, छोटी तथा बड़ी खालें, मसाले तथा तम्बाकू भारत में आते हैं। तथा भारत से नेपाल को निर्यात रुई के कपड़े सूत, धातु के बने बर्तन, तेल, नमक, नील, अन्य रंग तथा खांड इत्यादि पदार्थों का है।

नमक, लकड़ी तथा तम्बाकू इत्यादि पर राज्य का एकाधिकार है अर्थात् उसे नियुक्त राजकर्मचारी अथवा उसके एजेन्ट ही

इन चीज़ों का व्यापार कर सकते हैं। अन्य चीज़ों के व्यापार पर कोई बन्धन नहीं है, इनका व्यापार सब कर सकते हैं। व्यापारी प्रायः नेवार जाति के हैं, पर अब कुछ हिन्दू और मुसलमान भी वहीं आकर बस गये हैं तथा व्यापार में भाग लेने लगे हैं। मुख्य रास्ता ब्रिटिश भारत से काठमण्डू को बीरगञ्ज, हातर, भीमजेदी, थानकोट होकर आता है। नेपाल के माल की मुख्य मण्डी गोरखपुर है। १९१८-१९ में नेपालके कुल व्यापार का मूल्य ६०४४६००० रुपये था, जिसमें से ४७६३९००० रुपये का माल वहां से आया, तथा २२८००००० का माल नेपाल को गया।

सिक्किम—

सिक्किम से मुख्य आयात वही हैं जो नेपाल से आते हैं तथा सिक्किम वही पदार्थ भारत से लेता है। पर यह व्यापार परिमाण में बहुत थोड़ा है। १९१८-१९ में सिक्किम से ३२४४००० रुपये का माल आया और १२४२००० का माल वहां गया।

तिब्बत—

यद्यपि दार्जलिङ्ग से सिक्किम द्वारा तथा लद्दाख द्वारा तिब्बत को माल पहुंचानेके कई रास्ते हैं, तो भी प्रायः प्राकृतिक कठिनाइयों के कारण तथा शासक वर्ग द्वारा उपस्थित की गई अड़चनों के कारण वे रास्ते कभी सफल नहीं हुए। १९०४ में लार्ड कर्ज़न ने लासा में एक मिशन भेजा, जिसने तिब्बत के साथ व्यापार बढ़ाने का निश्चय किया। तब से इसमें कुछ बढ़ती हुई है। १९१८-१९ में कुल व्यापार का मूल्य ११५२००० था। तिब्बत से मुख्य आयात कच्चा रेशम तथा सुरागाय की पूंछ है तथा भारत से तिब्बत को रुई के कपड़े, पक्का रेशम, नील तथा धातुओं के बने वर्त्तन जाते हैं।

भूटान—

१७७५ में मि० बोगले ने देवराज से भूटान के साथ व्यापार करने की आज्ञा ली। तब से ही ब्रिटिश भारत का भूटान के साथ

व्यापार आरम्भ हुआ। भूटान से भारत में आयात शहतीर, नारङ्गी, गधे, खच्चर, भेड़, घी तथा कच्चा रेशम इत्यादि पदार्थ हैं। भारत का भूटान को निर्यात पका हुआ रेशम, सुपारी तथा तम्बाकू है। १६१८-१६ में इस व्यापार का कुल मूल्य ३६२६००० था। पर यह व्यापार घट रहा है।

पश्चिमी चीन—

शानराज्य तथा बर्मा इत्यादि द्वारा भारत का पश्चिमी चीन से व्यापार होता है। चीन को लाख, आलू तथा अन्य सब्ज़ी, फल वार्निश, छतरियों के शाम, काग़ज़, चमड़े का सामान इत्यादि पदार्थ जाते हैं। तथा चीन से तिनकों के टोप, ताम्बे तथा लोहे के बर्तन स्वर्णपत्त तथा रेशम भारत को आते हैं। शानराज्यों द्वारा चीन से जो व्यापार होता है यह सरकारी रजिस्टरों में दर्ज नहीं होता अतः उसका बताना कठिन है। शेष व्यापार का कुल मूल्य १६१८-१६ में १७०८१००० रुपये था। यह व्यापार बढ़ रहा है।

स्याम—

स्याम से मुख्य आयात तथा निर्यात वही हैं जो चीन से हैं पर उसके सिवाय स्याम भारत को शहतीर, सुपारी तथा मिट्टी का तेल भी भेजता है। १६१८—१६ में इस व्यापार का कुल मूल्य ४,२०००० रुपये था।

कारेनी—

यह व्यापार प्रायः बर्मा द्वारा होता है। कारेनी से मुख्यतः जीवित-प्राणी तथा शहतीर आते हैं तथा यहां से सुपारी तथा मसाले वहां जाते हैं। कारेनी से भारत का आयात घट रहा है। पर भारत से कारेनी का निर्यात व्यापार बढ़ रहा है।

भविष्य

किसी चीज़ की वर्तमान अवस्था को देखकर ही उसका भविष्य जाना जाता है। इस व्यापार की वर्तमान अवस्था को

देखने से पता लगता है कि अनेक कठिनाइयों के होने पर भी यह व्यापार प्रतिदिन बढ़ रहा है, क्योंकि सीमान्त देशों की औद्योगिक उन्नति न होने के कारण तथा विविध देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध न होने के कारण, मशीन की बनी हुई पाश्चात्य देशों की चीज़ों के लिये किसी ऐसे देश पर निर्भर रहना पड़ता है, जिस का संसार के विविध देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध हो तथा उन देशों के समीप भी हो और भारत ही एक ऐसा देश है जिसका संसार के प्रायः सब देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध है तथा पास भी है। अतएव सीमान्त देशों को भारत पर ही पाश्चात्य देशों की चीज़ों के लिये निर्भर रहना पड़ता है। इस के अतिरिक्त भारत के बने माल के लिये भी उन देशों को भारत का ही मुंह देखना पड़ता है। अतः इस व्यापार का भविष्य पर्याप्त उज्ज्वल है।

भारत का सरकारी ऋण।

१९२० के अन्त में भारत का सरकारी ऋण ३७ करोड़ ८० लाख पौंड था। इस ऋण की कहानी अद्भुत है। पंजाब के ऊसर प्रदेशों को उपजाऊ बनाने के खर्च से लेकर अबीसिनिया के आक्रमण तक का खर्च इस में अन्तर्गत है। भारत जो रुपया विलायत को हर वर्ष भेजता है उसका बड़ा भाग उस ऋण का व्याज है जो समय २ पर भारतसरकार लन्दन के साहुकारों से लेती रही है। इन खर्चों की समस्या को समझने के लिये इस ऋण के इतिहास का जानना आवश्यक है। १९७२ में भारत का ऋण कुल १७ लाख पौंड था। इस के पश्चात ही टीपू के साथ झगड़ा आरम्भ हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि १७९२ में यह ऋण एक करोड़ रुपये तक पहुंच गया। लार्ड वेलज़ली की "शानदार" जीतों ने १८०५ में इस ऋण को २ करोड़ १० लाख पौंड तक पहुंचा दिया। और १८०७ में इसका कुल परिमाण २ करोड़ ७० लाख पौंड होगया। कई वर्ष तक इस में कोई वृद्धि न हुई और १८२९ में इसका परिमाण २ करोड़ था। अब लार्ड बैंटिंक ने खर्चों को घटाने का प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि १८३६ में इस ऋण की कुल रक़म २६९४७४३४ पौंड थी। और यदि इस में ईस्टइण्डिया कम्पनी का विलायत का ऋण भी मिलाया जाये, तो यह ३३७२२७८० पौंड बनता है।

परन्तु लार्ड आकलैण्ड के पधारते ही यह कमी सब पूरी करदी गई। ब्रिटिश सरकार की आज्ञानुसार अफ़ग़ानिस्तान के साथ युद्ध आरम्भ हुआ। इसलिये ईस्टइण्डिया कम्पनी ने युद्ध के ख़र्चों को अपने सिर पर लेने से इन्कार कर दिया। पार्लेमेण्ट में प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ब्राईट ने कम्पनी के पक्ष में आवाज़ उठाई। परन्तु सुनता कौन था? युद्ध का ख़र्च १ करोड़ ५० लाख पौंड

हुआ था और यह सब का सब कम्पनी के ऋण में सम्मिलित कर दिया गया। और अब ऋण ४२५०२७५० पौंड होगया। इन दिनों भारत को जीतने की नीति ज़ोरों पर थी। सिन्ध अमीरों से छीना गया। पंजाब में सिक्खों से युद्ध हुए। और १८५०—५१ में ऋण ५५०९९३१५ पौंड तक जा पहुंचा। अब कुछ घबराहट आरम्भ हुई और ऋण को कम करने की कुछ चिन्ता की गई। परन्तु लार्ड डलहौज़ी के शासनकाल ने रहीसही कसर भी पूरी करदी। और १८५६—५७ में सरकारी ऋण ५९४६१९६६ पौंड होगया। १८५७ के ग़दर के एक वर्ष के ख़र्च ने १ करोड़ पौंड की इस में और वृद्धि करदी।

सिपाहियों के ग़दर के सम्बन्ध में दो बातें स्मरणीय हैं। एक तो यह कि इसका कारण इंगलैण्ड के युद्ध-विभाग की ग़लती थी। दूसरे यह कि उस से पहिले जब कभी भारतीय सेनाओं को भारत से बुलाया गया था, तो उनका ख़र्च भारत के कोष से दिया जाता था। इसलिये अब जब अंगरेज़ी फ़ौजें यहां आरही थीं उनका ख़र्च इंगलैण्ड को देना चाहिये था। इन दोनों बातों को भूलकर १८५७ के ग़दर का सब ख़र्च भारत के सिर पर डाला गया। न केवल यही प्रत्युत ख़र्च का अनुमान लगाने का उपाय भी विचित्र था। भारत को आनेवाले सैनिकों का सब ख़र्च उनके इंगलैण्ड से प्रस्थान करने से छः मास पहिले ही भारत के सिर पर डाला गया। इंगलैण्ड ने सिपाहियों के ग़दर में भी बहुत रुपया कमाया।

भारतसरकार के ब्रिटिश सरकार के अधीन होने से पहिले कम्पनी का ऋण ७ करोड़ पौंड तक पहुंच चुका था। १२ लाख पौंड ईस्टइण्डिया कम्पनी के हिस्सेदारों को दिये गये और वे भी भारत के सिर डाले गये। यह बर्ताव भारत के साथ ही किया गया है। इस के पश्चात निआग्रा कम्पनी से इंगलैण्ड ने जब निआग्रा लिया, तो कम्पनी को जो रुपया दिया गया, वह ब्रिटिश सरकार

ने स्वयम् दिया। दक्षिण अफ्रीका के बलवे को शान्त करनेके खर्च का बहुत थोड़ा भाग दक्षिण अफ्रीका ने दिया। सारांश में यह ७ करोड़ पौंड का ऋण निष्प्रयोजन ही भारत के सिर मढ़ा गया। इस बात को रमेशचन्द्रदत्त ने बहुत अच्छी प्रकार लिखा है कि ब्रिटेन ने भारत को ईस्टइण्डिया कम्पनी से खरीदा। परन्तु बजाय इस के खरीदार दाम दे, जैसा कि दुनिया का रिवाज है, दाम भी भारत को देने पड़े।

भारतमंत्री के अधीन होते ही ऋण बढ़ने लगा और उन्नीस वर्षों में वह दुगना होगया। जहां कम्पनी के अधीन ७ करोड़ एक शताब्दी में हुए थे, वहां अब यह रक़म १९ वर्षों में पूरी होगई और १८७७ में ऋण १३८९३५०२५ पौंड तक पहुंच गया। हरएक स्कीम के लिये, चाहे वह लाभकारी थी या व्यर्थ, भारतमंत्री को रुपया देने के लिये बाध्य किया गया। कई वाईसराय और कई भारतमंत्री चिल्लाते रहे परन्तु उनकी सुनी ही न गई प्रत्युत क़ानून-विरुद्ध ख़र्च भारत के सिर पर ही थोपे गये। रेलें तो इन दिनों खूब बनीं। परन्तु जहां भारतसरकार ने ८० हज़ार पौंड ३ प्रति सैकड़ा दर से ऋण लेकर एक मील को बनाया वहां पहिली विलायती कम्पनियों ने ब्रिटिश सरकार की छाया में बैठकर एक मील पर १७ हज़ार पौंड ख़र्च किये और भारतसरकार से ५ प्रति सैकड़ा के निर्ख से सूद वसूल किया। यह ठीक है कि भारतसरकार की आय भी इन दिनों, १९ वर्षों में, १८० लाख पौंड बढ़ गई, परन्तु बढ़ाव में अधिकांश दरिद्र भारतवासियों पर लगाये हुए टैक्स का था। युरोपीयन लोग तो (जैसा कि लार्ड लारेन्स ने लिखा है) तुरन्त कोलाहल मचा देते थे और भारतमंत्री से आज्ञा जारी करवा लेते थे।

१८७७ के पश्चात तो ऋण दिन दूना और रात चौगुना होने लगा और १९०१—२ में वह २२६२९९२१०५ पौंड तक पहुंच गया। इस वृद्धि में न केवल उन विभागों का ख़र्च अन्तर्गत है जिन

तैयार हुई थी। खांड बनाने के व्यवसाय की उन्नति के लिये अभी भारत में बहुत बाड़ क्षेत्र है। आजकल के ढंग से गुड़ या शक्कर बनाने में इसका बहुत सा भाग व्यर्थ जाता है। प्रथमतः गन्ने से ही रस पूरा नहीं निकलता। फिर कड़ाहा को खुला गर्म करने से इसके व्यर्थ नष्ट होने की आशंका है। और फिर इसको शुद्ध करने के उपाय खराब हैं। आवश्यकता है कि गांव में सहयोग की सहायता से अच्छा सामान मंगाया जाये, जहां सारे गांववाले बारी २ से गुड़ व शक्कर बनाते रहें। गन्ने की फ़सल वैसे ही बहुत क़ीमती फ़सल है। यदि इस की खेती बढ़ा दी जाय तो आशा है हम बहुत जल्दी बाहर की खांड की निर्भरता से मुक्त होजायेंगे।

तीसरा दर्जा लोहे के सामान और मशीनों का है। १९१९—२० में इनके आयात का दाम कुल आयात का १२ प्रति सैंकड़ा भाग था और १९१८—१९ में १० प्रति सैंकड़ा। १९१९—२० में इस का दाम २७ करोड़ रुपये था। इस अधिकता का कारण रेलों इत्यादि के लिये इन्जन और अन्य सामग्री का आना है। भारत का अपना लोहे का उद्योगधन्दा भी अब टाटा साहब के साहस के कारण पर्याप्त उन्नति कर रहा है। उनका जमशेदपुर का कारखाना अब संसार के पांच दस बड़े २ कारखानों में गिना जाने लगा है। लोहा भारत में कई स्थानों में मिलता है परन्तु कठिनता कोयले के मिलने और लोहे के साथ अन्य वस्तुओं के प्रयोग करने की थी। युरोपीयन युद्ध ने लोहे का बाहरसे आना कुछ बन्द करके भारत के लोहे के कारखानों को काम करने का अवसर दिया, जिस के कारण इस उद्योगधन्दे ने काफ़ी उन्नति की है।

इस के पश्चात मिट्टी के तेल का दर्जा है। १९१९-२० में इस के आयात का दाम ८ करोड़ रुपये था। भारत में मिट्टी का तेल पहिले बर्मा में ही निकलता था। परन्तु अब अटक आयल कम्पनी ने पंजाब में भी निकालना आरम्भ कर दिया है।

निर्यात-व्यापार

शेष विविध परिमाण की छोटी २ वस्तुएं रह जाती हैं, जिन के विषय में जुदा लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। अब यदि निर्यात-व्यपार के अंकों को देखा जाये तो जैसा कि पहले कहा गया है, निर्यात-व्यापार का कुल दाम ३०६ करोड़ रुपये था। इस में भी सब से पहिला दर्जा रुई का है। १६१६–२० में इसका निर्यात ८६ करोड़ रुपये था। इस में ५६ करोड़ रुपये की तो खालिस रुई थी और २७ करोड़ रुपये का कपड़ा, धागा और सूत इन में आशाजनक बात सूती कपड़े के निर्यात की उन्नति और धागे और सूत के आयात की कमी है। १६१३—१४ में भारत से केवल ८८० लाख गज़ कपड़ा बाहर गया था और १६१६-२०में१६६० लाख गज़। यदि इन अंकों को आयात-व्यापार के अंकों के साथ तुलना करके पढ़ा जाये तो विदित होगा कि हमारी रुई की खेती हमारी आवश्यकता से अधिक है। भारत में कपड़ा आया तो ५६ करोड़ रुपये का और रुई और रुई की वस्तुएं बाहर गईं ८६ करोड़ रुपये की। इस में से केवल बाहर जानेवाली रुई की क़ीमत ही ५६ करोड़ रुपये थी। ये अंक बहुत उत्साह जनक हैं। आवश्यकता इस बात की है कि भारत में उत्तम प्रकार के सूती कपड़े बुनने का प्रबन्ध किया जाये।

दूसरा नम्बर जूट का है। कच्चा जूट २५ करोड़ रुपये का और जूट के बने हुए थैले इत्यादि ५० करोड़ रुपये के बाहर गये। जूट की पैदावार में भारत सब से आगे है। और इस समय जूट से बनी हुई चीज़ों में भी इसका दर्जा सब से आगे है।

तीसरे दर्जे पर चमड़ा और खालें हैं। १६१६–२० में इनके निर्यात का दाम ३६ करोड़ रुपये था। इस में यह बात स्मरणीय है कि अब कमाया हुआ चमड़ा और खालें बाहर जाने लग पड़ी हैं। आवश्यकता है कि अब इस ओर अधिक ध्यान दिया जाये।

इससे उतर कर २६ करोड़ रुपये के बीज और २० करोड़

रुपये की चाय का दर्जा है। इसके बाद अनाज का दर्जा आता है। १९१९-२० में अनाज बहुत कम परिमाण में बाहर भेजा गया था, जिसके कारण इसका दर्जा पीछे आया। १६०८-१८ तक के दस वर्षों में भारत से ४० करोड़ मन अनाज बाहर गया जब कि इन्हीं दस सालोंकी पैदावार २१३ करोड़ मनके लगभग थी। इस प्रकारसे औसत निर्यात ४ करोड़ मन प्रतिवर्ष के लगभग है। यह कुल पैदा-वार का कठिनता से २ प्रति सैंकड़ा भाग होता है। भारत में लगा-तार अनावृष्टि के दिनों में इतना परिमाण भी बाहर जाता हुआ बुरा मालूम होता है और आवश्यक है कि इस पर पहिले भारत-वासियोंके स्वत्वका विचार किया जाय। यह करना तो असम्भव है कि भारत निर्यातसे बिल्कुल रोकदिया जाये। क्योंकि अच्छी फ़सलों के दिनों में ज़िमींदार लोग अपनी फ़सल को कम दाम पर बेचने को बाध्य होंगे और उनके लिये अच्छे और बुरे वर्ष समान हो जायँगे। क्रियात्मक प्रस्ताव यह है कि गेहूं के निर्यात पर चुंगी लगादी जाय। इसका दर इस प्रकार से रखा जाये कि जैसे २ भारत में गेहूं के दाम तेज़ हों, वैसे ही चुंगी का दर भी बढ़ जाये और महंगी की क़ीमतों पर इतनी चुंगी हो कि गेहूं को बाहर भेजना बिल्कुल लाभकारी न हो। यह चुंगी स्वयमेव बाज़ार की क़ीमतोंके घटने बढ़नेके साथ ही साथ निर्यात को न्यूनाधिक करती जायेगी और फिर इसके व्यापार में किसी प्रकार का हस्तान्तेप करने की आवश्यकता न रहेगी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है भारत के निर्यात-व्यापार में खेद-जनक बात उस कच्चे माल का बाहर जाना है जिससे वस्तुएं भारत में भी बनाई जा सकती हैं। ५९ करोड़ रुपये की रुई का बाहर जाना, २७ करोड़ रुपये के जूट का और इस प्रकार से कई तरह के बीजों का बाहर जाना, कच्चे माल में गिना जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि भारत में ही इस कच्चे माल को भिन्न भिन्न वस्तुओं के रूप में परिवर्तित कर दिया जाये। और जहां हम कोई वस्तु अपनी आवश्यकता से अधिक पैदा करते हैं

उसको बाहर भेज दें। इस सम्बन्ध में सरकार हमारी कई प्रकार से सहायता कर सकती है।

१--जैसे कि हम आर्थिक नीति के अध्याय में बतलायेंगे, बाहर के आयात पर संरक्षणार्थ चुंगी लगाकर सरकार भारत को औद्योगिक उन्नति करने का अवसर द सकती है। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि केवल उन उद्योगधन्दों के संरक्षण का प्रबन्ध हो जिन की यहां उन्नति होने की सम्भावना है।

२--कई उद्योगधन्दे ऐसे हैं जिन में गवर्नमेन्ट आर्थिक सहायता दे सकती है। ऐसे उद्योगधन्दों के लिये जो देश के लिये अत्यन्त आवश्यक हों सरकार आर्थिक सहायता ऋण इत्यादि देकर कर सकती है। परन्तु यहां रिशवतखोरी के विरुद्ध विशेष प्रबन्ध करना होगा।

३—उत्तम औद्योगिक शिक्षा के लिये यहां प्रबन्ध करके सरकार कई उद्योगधन्दों को सम्भव बना सकती है। इस समय देश में उद्योगधन्दों की उन्नति के लिये साहस और उत्साह तो बहुत है परन्तु उन लोगों के लिये जो उद्योग धन्दों का काम करना चाहें योग्य शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं। लेजिसलेटिव असेम्बली ने इस आशय का अपने गत अधिवेशन में प्रस्ताव पास किया था कि भारतसरकार और प्रान्तों की गवर्नमेंटें इस सम्बन्ध में काम करना आरम्भ करें। इस बात की सिफ़ारिश की थी कि एक तो भिन्न २ विद्यापीठों के साथ खोज का प्रबन्ध होना चाहिये, ताकि भारतीय रसायनशास्त्र वेत्ता अपने ज्ञान से भारत की सेवा कर सकें। अभी डा० प्र० च० राय की अध्यक्षता में रंगों के व्यवसाय पर खोज हुई थी और अब उन्हों ने घोषणा की है कि उन के शिष्यों ने भारतीय द्रव्यों से रंग बनाने का नवीन और सरल उपाय खोज निकाला है। इसी प्रकार भिन्न २ स्थानों पर सरकार इस क़िस्म की खोज के लिये प्रबन्ध कर सकती है। कुछ उद्योग-धन्दों में शिक्षा का भी प्रबन्ध किया जा सकता है। इस सम्बन्ध

में जमशेदपुर में टेकनीकल कालिज की स्थापना उल्लेखनीय है।

४—सरकार आदर्श कारख़ाने खोलने का प्रबन्ध कर सकती है। भारत की पैदावार अपरिमित है। युद्ध के दिनों में जब भारत सरकार को आवश्यकता हुई तो उसने कई उद्योगधन्दों में हाथ डाला और नये उद्योगधन्दे, जिनका भारत में सफल होना पहिले असम्भव समझा जाता था, सफल होगये। इस प्रकार विविध उद्योगधन्दों में हाथ डालकर, प्रारम्भिक काम पहिले करके उनको फिर लोगों के हाथ बेच सकती है।

५। भारत में भिन्न भिन्न कारख़ानों और उद्योगधन्दों को निपुण लोगों के परामर्श देने का प्रबन्ध किया जा सकता है। वर्तमान औद्योगिविभाग के परिचय के कारण परामर्श के लिये जा सकते हैं। और फिर उन के परामर्श से कई व्यवसायों को लाभ पहुंच सकता है।

गवर्नमेंट जो कुछ कर सकती है या करेगी उसको छोड़कर भारत की औद्योगिक उन्नति के लिये और भी कुछ किया जा सकता है। मोटे २ उपाय नीचे दिये जाते हैं—

१। रुपया सबसे आवश्यक वस्तु है। भारत की औद्योगिक उन्नति के लिये औद्योगिक बंकों की ज़रूरत है। टाटा इण्डास्ट्रियल बंक और एक दो और बंक इस प्रकार के खुल गये हैं परन्तु इस विषय में अभी बहुत उन्नति हो सकती है। आवश्यकता है कि औद्योगिक बंक की शाखायें हर एक बड़े नगर में हों, ताकि कोई काम केवल रुपये के न मिलने से ही न रुक जाये।

२। संयुक्त मूलधन की कम्पनियों का भी भारत में अधिक प्रचार होना चाहिये। परन्तु यह आवश्यक है कि ये उन लोगों के हाथ में हो जो उस काम को जानते हों।

३। साधारण बंकोंका भी देशमें जाल फैलना आवश्यक है। साधारण बंक जनसाधारण से रुपया लेकर उस काम को व्यापारिक कामों में लगा सकते हैं। और फिर उन लोगों के रुपये जो आगे

व्यापार में भाग लेते हैं, उद्योगधन्दों में लग सकते हैं। भारत की औद्योगिक उन्नति में बैंक एक आवश्यक साधन है।

४। दस्तकारी के कामों को सहयोग के सिद्धान्त पर लाने की आवश्यकता है। इस प्रकार भारतीय कारीगर अपने माल को अच्छी तरह से बेच सकते हैं। अपने लिये कच्चा माल सस्ते दामों पर खरीद सकते हैं और साहूकारों की सूद की दासता से मुक्ति पा सकते हैं।

स्थलमार्ग द्वारा विदेशी व्यापार।

यद्यपि प्राचीनतम समय में भी भारत का व्यापार रोम इत्यादि देशों से होता था, तथापि उस समय भारत का मुख्य व्यापार समीपवर्त्ती देशों से ही था। आस पास के पड़ौसी-गण अपनी चीज़ें आपस में एक दूसरे से बदल लेते थे। धीरे २ जब व्यापार की सीमा बढ़ने लगी, तब कई निश्चित रास्ते बनते गये तथा सुदूरवर्त्ती चीन तथा साईबीरिया की चीज़ें स्थलमार्ग से भारत में आने जाने लगीं। रास्ते दुर्गम थे, असबाब ढोने में बड़ी अड़चनें थीं, अतः थोड़े भार के क़ीमती माल ही बाहर जाते थे।

इसके बाद जब सामुद्रिक रास्तों का पता चला, तब भी स्थलमार्ग का व्यापार कम नहीं हुआ क्योंकि बहुत-सा माल हिन्दुकुश पार होकर के स्थल मार्ग से कास्पियन तथा काला सागर तक पहुंचाया जाता था।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में, खोतीन गोबी, काशगर बलख़ तथा काबुलहोते हुए २॥ हज़ार मील का चक्कर लगाकर चीनी व्यापारी भारत में आते थे। मुसलमानों के समय में तो इस व्यापार की प्रसिद्धि और भी बढ़ गई। अफ़गानिस्तान तथा ईरान के बादशाहों के दरबार भारतीय पदार्थों से भरे रहते थे। उस समय मूर तथा अरब लोग भारत का माल सीरिया, मिस्र तथा एशियामाइनर की राह से भूमध्यसागर तक पहुंचाते थे। उस के बाद जब नादिरशाह इत्यादि के आक्रमण सीमान्त की तरफ़ से होने लगे, तथा पुर्तगीज़ों और अंगरेज़ों ने भारत का माल समुद्र की राह से युरोप लेजाना शुरू किया, तब इस व्यापार का महत्व कम होगया। तदन्तर जब देश में अंगरेज़ों का राज स्थापित होगया, तब फिर यह व्यापार बढ़ने लगा।

वर्तमान अवस्था—

भारत के आस पास के देशों की, जिन से स्थल-मार्ग द्वारा भारत का व्यापार होता है, सीमा बहुत बड़ी है। यह सीमा ईरान से लेकर स्याम तक फैली हुई है। परन्तु यह व्यापार परिमाण में बहुत कम है। १९१८–१९ में इस व्यापार का मूल्य कुल सामुद्रिक व्यापार के मूल्य का केवल ६ प्रति शतक था। क्योंकि प्राकृतिक अड़चनों के कारण सामान ढोने के अच्छे साधन न होने से तथा शासकों द्वारा उपस्थित की गई कठिनाइयों से यह व्यापार कभी सफल नहीं हुआ। ऊंट, खच्चर, याक, गधे, भेड़, बकरे, मनुष्य, स्त्रियें तथा बच्चे सामान ढोकर लेजाते हैं। रास्तों की कठिनाइयों के कारण तथा चोरी और डाके का भय होने के कारण व्यापारी इकट्ठे होकर चलते हैं।

सरकारी चौकियों की अव्यवस्था के कारण बहुत-सा माल सरकारी रजिस्टरों में दर्ज नहीं होता, अथवा कभी २ माल के मूल्य का अशुद्ध अनुमान कर लिया जाता है। कई जगह व्यापारी ठीक बताते नहीं हैं, प्रायः व्यापारी घूंस देकर आगे निकल जाते हैं और कई स्थानों पर सरकारी चौकियां नज़र में ही नहीं आती हैं।

सरकारी दफ़तरों में काश्मीर तथा शान राज्यों के व्यापार को भी विदेशी व्यापार गिना है, परन्तु वे ब्रिटिश भारत के ही हिस्से हैं। और जैसे अन्य रियासतों के व्यापार को विदेशी व्यापार नहीं कहा जा सकता है, इसी प्रकार इन देशों के व्यापार को भी विदेशी व्यापार नहीं कहा जा सकता। अतएव हम ने उनको विदेशी व्यापार नहीं गिना है।

स्थल-मार्ग के आयात तथा निर्यात के मुख्य पदार्थ—

स्थल-मार्ग से विदेशों में जानेवाले पदार्थों में मुख्यकर पदार्थ यूरोपीयन तथा भारतीय कपड़े, सूत, धातु के बने बर्तन, खाण्ड,

नमक तथा मिट्टी का तेल हैं तथा वहां से आनेवाले पदार्थों में मुख्यकर ऊन तथा कच्चा रेशम, फल तथा खालें हैं। निम्नलिखित देशों से भारत का स्थलमार्गद्वारा व्यापार होता है।

अफ़ग़ानिस्तान—

यद्यपि प्राकृतिक कठिनाइयों के अतिरिक्त अब तक शासकों द्वारा भी अड़चनें डाली जाती थीं। यथा नील के ४०० पौंड पर, जो कि एक ऊंट का भार समझा जाता था, २५० से ३६० तक काबुली रुपये महसूल में लिये जाते थे। तो भी नेपाल को छोड़ कर स्थलमार्ग से विदेशी व्यापार सब से अधिक इसी से होता है। भारत से अफ़ग़ानिस्तान के व्यापार के मुख्य तीन रास्ते हैं— (१) भारत से काबुल को खैबर दर्रे तथा जलालाबाद-द्वारा। (२) भारत से ग़ज़नी तथा क़न्धार को गोमलपास द्वारा। (३) भारत से क़न्धार को कोटा द्वारा।

भारत के सामान को अफ़ग़ानिस्तान लेजानेवाले तथा वहां से भारत को सामान लानेवाले पोविन्दा कहलाते हैं। ये पतझड़ में वहां से आते हैं तथा वसन्त में यहां से अफ़ग़ानिस्तान की मण्डियों के लिये सामान लेकर चले जाते हैं।

अफ़ग़ानिस्तान से प्रायः हींग, सूखे तथा ताज़े फल, घी, रेशम, ऊन, पोस्तीन, बड़ी तथा छोटी खालें तथा क़ालीन भारत में आते हैं। तथा भारत से रुई के कपड़े, सूत, चमड़ा, धातु के बने बर्त्तन, खांड तथा चाय वहां जाते हैं। १९१८-१९ इस व्यापार का कुल मूल्य ४८२१४००० रुपया था। जिस में से १७ ०७००० रुपये का माल हिन्दुस्तानमें आया तथा ३०३०७००० का माल यहां से गया। १९२१ की नयी सन्धि के अनुसार आयात निर्यात पर से महसूल उठ जाने से इस व्यापार की फलने फूलने की संभावना है।

दीर, स्वात, बजौर—

यहां से बहुत करके अनाज, दालें, छोटी तथा बड़ी खालें, ईंधन तथा शहतीर आदि पदार्थ आते हैं, तथा भारत से कपड़े, सूत,

अनाज तथा मसाले इत्यादि वहां जाते हैं। १९१४—१५ में इस व्यापार का मूल्य १६५४२००० रुपये था। पर युद्ध के कारण १९१६-१७ यह घटकर ५५६८००० होगया, तथा १९१८—१९ वही व्यापार फिर बढ़कर १३६४०४००० तक पहुंच गया।

मध्य एशिया—

इसका व्यापार प्रायः लद्दाख द्वारा होता है। यह व्यापार धीरे २ बहुत बढ़ता जारहा है। १९१४-१५ जहां केवल इस व्यापार का मूल्य ४६५४००० रुपये था, वहां १९१८—१९ में यह व्यापार बढ़कर १०६४१००० रुपये का होगया। मध्य एशिया से मुख्यकर चरस, कच्चा रेशम, तथा ऊन भारत में आती है तथा यहां से रुई के कपड़े तथा पक्का रेशम इत्यादि बाहर जाते हैं।

ईरान—

यह व्यापार सिन्ध तथा सीस्तान द्वारा होता है, तथा परिमाण में बहुत थोड़ा है, और न इस के बढ़ने ही की आशा है। ईरान से भारत में रेशम, ऊन तथा खजूर आती है और यहां से कपड़ा तथा चमड़ा इत्यादि पदार्थ वहां जाते हैं। १९१८-१९ में इस व्यापार का मूल्य ४१७६००० रुपये था।

नेपाल—

स्थलमार्ग से जिन जिन देशों के साथ भारत का व्यापार होता है, उन में पहिला नम्बर नेपाल का है। १९१४—१५ में व्यापार स्थलमार्ग के कुल व्यापार का ⅕ था। चावल, धान, सरसों, तोरिया तथा अन्य तेलहन, रंगने का सामान, खच्चर, शहतीर, कस्तूरी, सुहागा, छोटी तथा बड़ी खालें, मसाले तथा तम्बाकू भारत में आते हैं। तथा भारत से नेपाल को निर्यात रुई के कपड़े सूत, धातु के बने वर्तन, तेल, नमक, नील, अन्य रंग तथा खांड इत्यादि पदार्थों का है।

नमक, लकड़ी तथा तम्बाकू इत्यादि पर राज्य का एकाधिकार है अर्थात् उसे नियुक्त राजकर्मचारी अथवा उनके एजेन्ट ही

इन चीज़ों का व्यापार कर सकते हैं। अन्य चीज़ों के व्यापार पर कोई बन्धन नहीं है, इनका व्यापार सब कर सकते हैं। व्यापारी प्रायः तेवार जाति के हैं, पर अब कुछ हिन्दू और मुसलमान भी वहीं जाकर बस गये हैं तथा व्यापार में भाग लेने लगे हैं। मुख्य रास्ता ब्रिटिश भारत से काठमण्डू को वीरगञ्ज, हातर, भीमजेदी, थानकोट होकर आता है। नेपाल के माल की मुख्य मण्डी गोरखपुर है। १९१८-१९ में नेपालके कुल व्यापार का मूल्य ६०४४६००० रुपये था, जिसमें से ४७६३९००० रुपये का माल वहां से आया, तथा २२८००००० का माल नेपाल को गया।

सिक्किम—

सिक्किम से मुख्य आयात वहीं हैं जो नेपाल से आते हैं तथा सिक्किम वही पदार्थ भारत से लेता है। पर यह व्यापार परिमाण में बहुत थोड़ा है। १९१८-१९ में सिक्किम से ३२४४००० रुपये का माल आया और १२४२००० का माल वहां गया।

तिब्बत—

यद्यपि दार्जिलिङ्ग से सिक्किम द्वारा तथा लद्दाख द्वारा तिब्बत को माल पहुंचानेके कई रास्ते हैं, तो भी प्रायः प्राकृतिक कठिनाइयों के कारण तथा शासक वर्ग द्वारा उपस्थित की गई अड़चनों के कारण वे रास्ते कभी सफल नहीं हुए। १९०४ में लार्ड कर्ज़न ने लासा में एक मिशन भेजा, जिसने तिब्बत के साथ व्यापार बढ़ाने का निश्चय किया। तब से इसमें कुछ बढ़ती हुई है। १९१८-१९ में कुल व्यापार का मूल्य ११५२००० था। तिब्बत से मुख्य आयात कच्चा रेशम तथा सुरागाय की पूंछ है तथा भारत से तिब्बत को रुई के कपड़े, पक्का रेशम, नील तथा धातुओं के बने बर्तन जाते हैं।

भूटान—

१७७५ में मि० बोगले ने देवराज से भूटान के साथ व्यापार करने की आज्ञा ली। तब से ही ब्रिटिश भारत का भूटान के साथ

व्यापार आरम्भ हुआ। भूटान से भारत में आयात शहतीर, नारङ्गी, गधे, खच्चर, भेड़, घी तथा कच्चा रेशम इत्यादि पदार्थ हैं। भारत का भूटान को निर्यात पका हुआ रेशम, सुपारी तथा तम्बाकू है। १६१८-१६ में इस व्यापार का कुल मूल्य ३६२६००० था। पर यह व्यापार घट रहा है।

पश्चिमी चीन—

शानराज्य तथा बर्मा इत्यादि द्वारा भारत का पश्चिमी चीन से व्यापार होता है। चीन को लाख, आलू तथा अन्य सब्ज़ी, फल वार्निश, छतरियों के शाम, काग़ज़, चमड़े का सामान इत्यादि पदार्थ जाते हैं। तथा चीन से तिनकों के टोप, ताम्बे तथा लोहे के बर्तन स्वर्णपत्र तथा रेशम भारत को आते हैं। शानराज्यों द्वारा चीन से जो व्यापार होता है यह सरकारी रजिस्टरों में दर्ज नहीं होता अतः उसका बताना कठिन है। शेष व्यापार का कुल मूल्य १६१८-१६ में १७०८१००० रुपये था। यह व्यापार बढ़ रहा है।

स्याम—

स्याम से मुख्य आयात तथा निर्यात वही हैं जो चीन से हैं पर उसके सिवाय स्याम भारत को शहतीर, सुपारी तथा मिट्टी का तेल भी भेजता है। १६१८—१६ में इस व्यापार का कुल मूल्य ४२००० रुपये था।

कारेनी—

यह व्यापार प्रायः बर्मा द्वारा होता है। कारेनी से मुख्यतः जीवित-प्राणी तथा शहतीर आते हैं तथा यहां से सुपारी तथा मसाले वहां जाते हैं। कारेनी से भारत का आयात घट रहा है। पर भारत से कारेनी का निर्यात व्यापार बढ़ रहा है।

भविष्य

किसी चीज़ की वर्तमान अवस्था को देखकर ही उसका भविष्य जाना जाता है। इस व्यापार की वर्तमान अवस्था को

देखने से पता लगता है कि अनेक कठिनाइयों के होने पर भी यह व्यापार प्रतिदिन बढ़ रहा है, क्योंकि सीमान्त देशों की औद्योगिक उन्नति न होने के कारण तथा विविध देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध न होने के कारण, मशीन की बना हुई पाश्चात्य देशों की चीज़ों के लिये किसी ऐसे देश पर निर्भर रहना पड़ता है, जिस का संसार के विविध देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध हो तथा उन देशों के समीप भी हो और भारत ही एक ऐसा देश है जिसका संसार के प्रायः सब देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध है तथा पास भी है। अतएव सीमान्त देशों को भारत पर ही पाश्चात्य देशों की चीज़ों के लिये निर्भर रहना पड़ता है। इस के अतिरिक्त भारत के बने माल के लिये भी उन देशों को भारत का ही मुंह देखना पड़ता है। अतः इस व्यापार का भविष्य पर्याप्त उज्ज्वल है।

भारत का सरकारी ऋण।

१६२० के अन्त में भारत का सरकारी ऋण ३७ करोड़ ८० लाख पौंड था। इस ऋण की कहानी अद्भुत है। पंजाब के ऊसर प्रदेशों को उपजाऊ बनाने के खर्च से लेकर अबीसिनिया के आक्रमण तक का ख़र्च इस में अन्तर्गत है। भारत जो रुपया विलायत को हर वर्ष भेजता है उसका बड़ा भाग उस ऋण का व्याज है जो समय २ पर भारतसरकार लन्दन के साहुकारों से लेती रही है। इन ख़र्चों की समस्या को समझाने के लिये इस ऋण के इतिहास का जानना आवश्यक है। १६७२ में भारत का ऋण कुल १७ लाख पौंड था। इस के पश्चात ही टीपू के साथ झगड़ा आरम्भ हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि १७६२ में यह ऋण एक करोड़ रुपये तक पहुंच गया। लार्ड वेलसली की "शानदार" जीतों ने १८०५ में इस ऋण को २ करोड़ १० लाख पौंड तक पहुंचा दिया। और १८०७ में इसका कुल परिमाण २ करोड़ ७० लाख पौंड होगया। कई वर्ष तक इस में कोई वृद्धि न हुई और १८२६ में इसका परिमाण २ करोड़ था। अब लार्ड वैण्टिक ने ख़र्चों को घटाने का प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि १८३६ में इस ऋण की कुल रक़म २६६४७४३४ पौंड थी। और यदि इस में ईस्टइण्डिया कम्पनी का विलायत का ऋण भी मिलाया जाये, तो यह ३३७२२७८० पौंड बनता है।

परन्तु लार्ड आकलैण्ड के पधारते ही यह कमी सब पूरी करदी गई। ब्रिटिश सरकार की आज्ञानुसार अफ़ग़ानिस्तान के साथ युद्ध आरम्भ हुआ। इसलिये ईस्टइण्डिया कम्पनी ने युद्ध के ख़र्चों को अपने सिर पर लेने से इन्कार कर दिया। पार्लेमेण्ट में प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ब्राईट ने कम्पनी के पक्ष में आवाज़ उठाई। परन्तु सुनता कौन था? युद्ध का ख़र्च १ करोड़ ५० लाख पौंड

हुआ था और यह सब का सब कम्पनी के ऋण में सम्मिलित कर दिया गया। और अब ऋण ४३५०२७५० पौंड होगया। इन दिनों भारत को जीतने की नीति ज़ोरों पर थी। सिन्ध अमीरों से छीना गया। पंजाब में सिक्खों से युद्ध हुए। और १८५०—५१ में ऋण ५५०९९३१५ पौंड तक जा पहुंचा। अब कुछ घबराहट आरम्भ हुई और ऋण को कम करने की कुछ चिन्ता की गई। परन्तु लार्ड डलहौज़ी के शासनकाल ने रहीसही कसर भी पूरी करदी। और १८५६—५७ में सरकारी ऋण ५९४६१९६९ पौंड होगया। १८५७ के ग़दर के एक वर्ष के ख़र्च ने १ करोड़ पौंड की इस में और वृद्धि करदी।

सिपाहियों के ग़दर के सम्बन्ध में दो बातें स्मरणीय हैं। एक तो यह कि इसका कारण इंगलैण्ड के युद्ध-विभाग की ग़लती थी। दूसरे यह कि उस से पहिले जब कभी भारतीय सेनाओं को भारत से बुलाया गया था, तो उनका ख़र्च भारत के कोष से दिया जाता था। इसलिये अब जब अंगरेज़ी फ़ौजें यहां आरही थीं उनका ख़र्च इंगलैण्ड को देना चाहिये था। इन दोनों बातों को भूलकर १८५७ के ग़दर का सब ख़र्च भारत के सिर पर डाला गया। न केवल यही प्रत्युत ख़र्च का अनुमान लगाने का उपाय भी विचित्र था। भारत को आनेवाले सैनिकों का सब ख़र्च उनके इंगलैण्ड से प्रस्थान करने से छः मास पहिले ही भारत के सिर पर डाला गया। इंगलैण्ड ने सिपाहियों के ग़दर में भी बहुत रुपया कमाया।

भारतसरकार के ब्रिटिश सरकार के अधीन होने से पहिले कम्पनी का ऋण ७ करोड़ पौंड तक पहुंच चुका था। १२ लाख पौंड ईस्टइण्डिया कम्पनी के हिस्सेदारों को दिये गये और वे भी भारत के सिर डाले गये। यह बर्ताव भारत के साथ ही किया गया है। इस के पश्चात निज़ामत कम्पनी से इंगलैण्ड ने जब निज़ामत लिया, तो कम्पनी को जो रुपया दिया गया, वह ब्रिटिश सरकार

ने स्वयम् दिया। दक्षिण अफ्रीका के बलवे को शान्त करनेके खर्च का बहुत थोड़ा भाग दक्षिण अफ्रीका ने दिया। सारांश में यह ७ करोड़ पौंड का ऋण निष्प्रयोजन ही भारत के सिर मढ़ा गया। इस बात को रमेशचन्द्रदत्त ने बहुत अच्छी प्रकार लिखा है कि ब्रिटेन ने भारत को ईस्टइण्डिया कम्पनी से खरीदा। परन्तु बजाय इस के खरीदार दाम दे, जैसा कि दुनिया का रिवाज है, दाम भी भारत को देने पड़े।

भारतमंत्री के अधीन होते ही ऋण बढ़ने लगा और उन्नीस वर्षों में वह दुगना होगया। जहां कम्पनी के अधीन ७ करोड़ एक शताब्दी में हुए थे, वहां अब यह रक़म १९ वर्षों में पूरी होगई और १८७७ में ऋण १३८९३५०२५ पौंड तक पहुंच गया। हरएक स्कीम के लिये, चाहे वह लाभकारी थी या व्यर्थ, भारतमंत्री को रुपया देने के लिये वाध्य किया गया। कई वाईसराय और कई भारतमंत्री चिल्लाते रहे परन्तु उनकी सुनी ही न गई प्रत्युत क़ानून-विरुद्ध ख़र्च भारत के सिर पर ही थोपे गये। रेलें तो इन दिनों खूब बनीं। परन्तु जहां भारतसरकार ने ९० हज़ार पौंड ३ प्रति सैकड़ा दर से ऋण लेकर एक मील को बनाया वहां पहिली विलायती कम्पनियों ने ब्रिटिश सरकार की छाया में बैठकर एक मील पर १७ हज़ार पौंड ख़र्च किये और भारतसरकार से ५ प्रति सैकड़ा के निर्ख से सूद वसूल किया। यह ठीक है कि भारतसरकार की आय भी इन दिनों, १९ वर्षों में, १८० लाख पौंड बढ़ गई, परन्तु बढ़ाव में अधिकांश दरिद्र भारतवासियों पर लगाये हुए टैक्स का था। युरोपियन लोग तो (जैसा कि लार्ड लारेन्स ने लिखा है) तुरन्त कोलाहल मचा देते थे और भारतमंत्री से आज्ञा जारी करवा लेते थे।

१८७७ के पश्चात तो ऋण दिन दूना और रात चौगुना होने लगा और १९०१—२ में वह २२६२९६२१०५ पौंड तक पहुंच गया। इस वृद्धि में न केवल उन विभागों का ख़र्च अन्तर्गत है जिन

से जनता और भारत सरकार दोनों को लाभ हुआ है प्रत्युत अफ़ग़ानिस्तान युद्ध, बर्मा युद्ध और तिब्बत के आक्रमण जैसी फज़ूलख़र्चियां भी सम्मिलित हैं। रेलों के सम्बन्ध में भी यह बात स्मरणीय है कि यद्यपि अब रेलों से सरकार को लाभ है परन्तु यह लाभ २०वीं सदी के आरम्भ से ही होने लगा है। १६सवीं सदी के अन्त तक ५० करोड़ रुपया लोगों से टैक्स लगाकर, रेलवे के घाटे को पूरा करने के लिये ख़र्च किया जा चुका था। यह ठीक है कि रेलें भारत में ही हैं और इन से भारत को इस समय आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से लाभ है, परन्तु बात यह है कि जिस दाम पर यह लाभ मोल लिया गया है, वह बहुत अधिक है।

बीसवीं शताब्दी में १६१२ तक इस ऋण का परिमाण २७४३००००० पौंड तक पहुंच गया। परन्तु इस में से ६ करोड़ रुपया रेलवे और नहरों के लिये ऋण लिया गया था। अथवा इस अवधि में कोई निरर्थक ख़र्च नहीं हुआ। युरोपीयन महाभारत के आरम्भ होने पर भारत सरकार ने १० करोड़ पौंड ब्रिटिश सरकार के भेंट चढ़ाये, जिनको मिला के १६२० के अन्त में ऋण की कुल संख्या ३७८०००००० पौंड होगई।

परन्तु यदि अब वर्तमान ऋण के अंको को देखा जाये, तो विदित होगा कि इस १० करोड पौंड की भेंट को छोड़ कर भारत सरकार का ऋण सारा ऐसी बातों में ख़र्च हुआ है जिन से आय की सम्भावना है या जो पर्याप्त आय दे रहे हैं। इस ऋण का बड़ा भाग रेलों और नहरों पर ख़र्च हुआ प्रतीत होता है और दोनों विभाग इस समय न केवल अपना खर्च सूद के साथ निकाल रहे हैं, प्रत्युत उस से कुछ अधिक भी। परन्तु यह अंक भ्रमपूर्ण है। गवर्नमेंटके हिसाबकी बहियोंमें यदि इस समय ईस्टइण्डिया कम्पनी के ऋण, भारत से बाहर के आक्रमणों के ख़र्च के ऋण, निष्प्रयोजन और व्यर्थ जारी की हुई लडाइयों के ख़र्च का नाम तक नहीं पाया जाता, तो इसका कारण यह नहीं है कि ख़र्च ही कभी नहीं हुआ

या ब्रिटिश सरकार ने अपने कोष से इसे दे दिया है प्रत्युत यह कि भारत सरकार हर वर्ष भारतवासियों पर बोझल टैक्स लगाकर अपनी आवश्यकता से अधिक रुपया वसूल करती रही और बचत को इन ऋणों को लौटाने में लगाती रही।

जिन दिनों यह कहा जाता था कि शिक्षा की उन्नति या स्वास्थ्य की स्कीमों पर खर्च करने के लिये रुपया नहीं उन्हीं दिनों ही इस पुराने ऋण को (जो कि अन्त में कोई भारी बोझ नहीं था) हिसाब की बहियों से उड़ाने के लिये करोड़ों रुपये खर्च किये जाते रहे। परिणाम यह है कि यदि कोई इस समय भारत सरकार के हिसाब को देखे, तो उसे इस बात का पता ही न चले कि भारत के ऋण में कभी यह ऊपर लिखी रक़में भी सम्मिलित थीं।

ऋण की कुल रक़म इस समय ३७८०००००० लाख पौंड के लगभग है। यह ऋण बाक़ी देशों की तुलना में बहुत थोड़ा है। परन्तु इंगलैण्ड, फ्रांस या जापान के जातीय ऋण उन देशों की लड़ाईयों पर खर्च का परिणाम हैं। भारत में ऐसी बात नहीं। भारत सरकार पिछले ऋणों को टैक्सों के द्वारा चुकाती रही है। इस लिये यह कमी कुछ आश्चर्यजनक नहीं। स्वर्गवासी महात्मा गोखले सर्वदा इस बात पर ज़ोर देते रहे कि गवर्नमेंट को शिक्षा, स्वास्थ्य रक्षा इत्यादि सर्व हितकारी विभागों पर खर्च करने के लिए रुपये निकालने चाहियें। और ऋण तो कम करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। वे सर्वदा इस बात में असफ़ल रहे। परन्तु अब रुपये की कमी ने कई प्रांतिक गवर्नमेंटों को इस नेक सलाह को मानने के लिये बाध्य कर दिया है और कई गवर्नमेंट स्थायी ऋण लेकर शिक्षा इत्यादि पर ख़र्च कर रही हैं।

भारत के ऋण के विषय में पांच चार वर्ष पहिले सब से बड़ी शिकायत यह थी कि ये सारे का सारा विलायत में लिया जाता था और इसका सूद एक प्रकार से भारत का टैक्स बन जाता था। युद्ध के दिनों जब गवर्नमेंट ने १० करोड़ पौंड की भेंट देनी

चाही, तो विलायत में रुपये की कमी के कारण अन्त में इस ऋण के लिये भारत में ही प्रबन्ध करना पड़ा, जिसका परिणाम बहुत आशाजनक था। उसी भारत से यहाँ ऋण देने वालों की कमी बताई जाती थी दो वर्षों में लगभग ६० करोड़ पौंड ऋण मिल गया। इस सफल अनुभव ने भविष्य के लिये यह सिद्धान्त तोड़ दिया कि जब कभी गवर्नमेंट को आवश्यकता हो तो विलायत से ही ऋण लिया जाये।

भारत से वार्षिक निकास।

यदि भारत के वजट पर दृष्टि दौड़ाई जाये तो विदित होगा कि भारत के टैक्स भारत में ही खर्च नहीं होते प्रत्युत उनका एक बड़ा भारी भाग हमें विलायत में भारत मंत्री के खर्च के लिये भेजना पड़ता है। १६२२—२३ के वजट में से ही १ अरब ४२ करोड़ रुपये की आय में से ५० करोड़ रुपया विलायत में खर्च किया जायेगा। और यदि इस में रेलवे के लिये योरुप में खर्चा जानेवाला रुपया भी सम्मिलित कर लिया जाये तो यह रक़म ५५॥ करोड़ तक पहुंच जावेगी। अर्थात कुल आय का ३५ प्रति सैंकडा भाग भारत से बाहर खर्च होगा। हरएक गवर्नमेंट अपनी आय में से कुछ न कुछ रुपया बाहर खर्च करती है और यह खर्च अपने आप कोई बुरी बात नहीं। परन्तु किसी देश में भी आय का इतना बडा भाग बाहर नहीं खर्च किया जाता। आओ देखें इस का क्या कारण है।

१ इस खर्च का एक बहुत बडा भाग उस रुपये का ब्याज है जिस से नहरें खोदी गई और रेलें बनाई गई। भारत की कृषि सम्बन्धी और व्यवसायिक उन्नति में यह दोनों वस्तुएं अत्यन्त आवश्यक हैं। और दोनों ही अब सामान्य रूप से न केवल अपनी लागत का सूद निकाल देती हैं प्रत्युत अपनी आय में से कुछ न कुछ भारत के ख़ज़ाने की भी भेंट चढ़ाती हैं। परन्तु प्रश्न यह नहीं कि वे लाभकारी हैं या नहीं प्रत्युत प्रश्न साथ में यह भी है कि जितना रुपया उन पर खर्च किया जा चुका है वह आवश्यक था या नहीं। भारतीय अर्थशास्त्रवेत्ताओं का साधारणतया यह मत है कि भारत में जो रेलों पर ख़र्च किया गया है वह अधिकतर विलायत के कारखानेदारों के आन्दोलन का परिणाम था और देश की आवश्यकतायें इस बात की इच्छुक न थीं कि इतनी

रेलें बनाई जायें और न ही यह कि उन पर इतनी उत्तम प्रकार की मशीनरी उपयोग में लाई जाय। साधारण रूप से भारत के अर्थसचिव भी इस तेज़ी के साथ रेलों के बनाये जाने का विरोध करते रहे हैं परन्तु उन बेचारों की आवाज़ बहरे कानों पड़ती रही है। साथ ही जैसा कि लिखा जा चुका है यह विचार ग़लत है कि रेलों से सर्वदा लाभ हुआ है। १८९६ तक लगभग हर वर्ष ७ करोड़ रुपया रेलवे के घाटे को पूरा करने के लिये भारत के कोष से निकलता रहा है और १८९६ प्रथम वर्ष था जिस में रेलों को बिलकुल घाटा नहीं हुआ। सारांश में रेलों के सूद के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यदि भारत की भलाई और लाभ की ओर भली भांति ध्यान दिया जाता तो हमें इतने परिमाण में रुपया ब्याज के रूप में न देना पड़ता।

नहरों के सम्बन्ध की बात रेलों से बिलकुल भिन्न है। नहरें भारत जैसे देश में खेती के लिये अत्यन्त आवश्यक साधन हैं। इनपर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। जो रुपया उन पर लगाया जाचुका है उस के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि भारत सरकार कृपणता से काम लेती रही है। नहरों पर लगाये हुए रुपये का सूद देते हुए भारतीय टैक्स देने वाले किसी प्रकार घाटे में नहीं रहते।

अस्तु यह तो पिछली नीति की आलोचना हुई। इस समय इसका क्या इलाज है? पिछले ऋणों के ब्याज को हमें हर अवस्था में देना होगा। और इस विषय में एक ही इलाज है कि भारतीय साहुकार इस सरकारी ऋण के तमस्सुक खरीद लें, ताकि उनका ब्याज बजाय अंग्रेज़ों के पास जाकर हमारा राष्ट्रीय सम्पत्ति पर खिराज होने के हमारे पास ही रहकर उसको बढ़ाने में सहायक हो। इस के अतिरिक्त नये ऋणों में हमें पूरा भाग लेना चाहिये, ताकि और कोई ऐसा बोझ हमारे सिर पर न पड़े जो अनावश्यक हो।

इस सम्बन्ध में यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि हरएक देश अपनी आवश्यकतानुसार अन्य देशों से ऋण लेता है, भारतीय दृष्टिकोण यह नहीं है कि हम लण्डन की मण्डी में ऋण लेना बन्द करदें किन्तु यह कि वहां, कोई विशेष आवश्यकता न पड़ने पर, ऋण लेने के लिये न जायें और विलायती-पूंजीपतियों को भारत सरकार ख़ास शर्तें न दे।

२ दूसरी बड़ी भारी रक़म जो इस खर्च में सम्मिलित है, वह भारतीय पेंशन पानेवाले अंग्रेज़ों की पेंशनें, छुट्टी पर गये हुओं के वेतन, विशेष डेपूटेशनों पर सैर करनेवाले अफ़सरों का मार्ग व्यय, भारतमंत्री के कर्मचारियों के वेतन में से भारत का भाग, इण्डियन हाई कमिश्नर और उस के कर्मचारियों का ख़र्च, भारत के लिये भरती की हुई गोरा फ़ौज का प्रारम्भिक खर्च, उस को भारत पहुंचाने और वहां से वापस लेजाने का खर्च और इस प्रकार की अन्य रक़में हैं। यह सब खर्च हमें पराधीन होने के कारण करना पड़ता है। और इसको कम, करने का प्रश्न अर्थशास्त्र की अपेक्षा राजनीति से अधिक सम्बन्ध रखता है। भारतीय दृष्टिकोण (जिस को वेलबी कमीशन के तीन मेम्बरों ने, दादाभाईनौरोजी, सर विलियम वेडरबर्न और मि० केन, भली भांति अपनी भिन्न रिपोर्ट में बतलाया है) यह है कि (क) भारत में अंगरेज़ अफ़सरों (सिवल और फ़ौजी) की संख्या बहुत अधिक है। यदि इन अफ़सरों की संख्या कम करके भारतीयों को इनका स्थान दे दिया जाये, तो इस खर्च में अवश्य कमी हो जायेगी।

(ख) सुधारोंसे पहिले भारतमन्त्री के दफ़्तर का सारा ख़र्च भारत के सिर पर डाला जाता रहा है। तीस पेंतीस वर्ष के लगातार आन्दोलन के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने भारतमन्त्री के वेतन को स्वयम् देना स्वीकार किया। परन्तु इस के साथ ही इण्डियन हाईकमिश्नर का दफ़्तर वाणिज्य सम्बन्धी बातों के लिए नया खोल दिया है। इण्डियन हाईकमिश्नर का लन्दन में

रखना अपने आप बुरी बात नहीं है परन्तु उस के साथ जो व्यापारकुशल कर्मचारी विलायत में रहेंगे और भारत में जो स्टोर्स डिपार्टमेंट खोला जायगा, यह व्यर्थ ही दुगना ख़र्च होगा। भारत में स्टोर्स डिपार्टमेंट खुलने पर (जो कि शीघ्र ही खुलजाना चाहिये) हाई कमिश्नर के व्यापारकुशल कर्मचारियों को भारत में तबदील कर देना चाहिये।

(ग) ब्रिटिश सरकार फ़ौजी ख़र्च का भी अपना उचित भाग देने से घबराती है। इंगलैण्ड का युद्ध-विभाग भारत से अंग्रेज़ी फ़ौज की भरती का ख़र्च वसूल करता है। कई लोगों का विचार है कि युद्ध विभाग इस विषय में बहुत महंगा सौदा करता है। उन की सम्मति यह है कि भरती का काम भारतमन्त्री को करना चाहिए। ऐसा करने से ख़र्च बहुत कम होगा। उन अंग्रेज़ सिपाहियों का ख़र्च भी भारत सरकार को इंगलैण्ड से लेना चाहिए जो छः वर्ष भारत का नमक खाते हैं और सैनिक शिक्षा लेते हैं। इस के साथ ही उस फ़ौज को हर वर्ष भारत में लाने और भारत से वापस ले जाने के लिए जो रक़म सरकारी जहाज़ों के बेड़े पर ख़र्च की जाती है उस से बहुत कम खर्चपर यह काम प्राईवेट कम्पनियों द्वारा कराया जा सकता है।

३ तीसरा भाग उन चीज़ों की क़ीमत का है जो कि भारत के विविध विभागों के लिए विलायत से ख़रीदी जाती हैं। रेलवे की सामग्री और अन्य ऐसी वस्तुएं भी इस में सम्मिलित हैं। कोई देश भी अन्य देशों से अन्तर्जातीय वाणिज्य में स्वतन्त्र नहीं हो सकता। और यह आशा करना कि यह खर्च किसीसमय बिलकुल उड़ जायेगा व्यर्थ है। इस बात को सन्मुख रखते हुए हमारी इस सम्बन्ध में दो शिकायतें हैं।

(क) औद्योगिक कमीशन के सामने गवाही देते हुए बहुत से भारतीय व्यापारियों ने शिकायत की थी कि गवर्नमेंट भारत में माल मिलने पर भी पक्षपात से विलायत के कारख़ानों का संरक्षण

करती है। पता नहीं ऐसी अवस्था कब तक जारी रहती परन्तु युद्ध ने योरूप के माल का आना बन्द कर दिया। इस लिये गवर्नमेंट को विवश होकर भारतीय कारख़ानों का संरक्षण करना पड़ा और युद्ध के पश्चात गवर्नमेंट इस नीति से विमुख नहीं हो सकती थी। यदि यही नीति भारत में सदा से बर्ती जाती; तो यह निकास पहिले ही कम हो जाता।

लेजिसलेटिव असेम्बली ने गत वर्ष इस बात का प्रस्ताव, पास किया था कि जहां तक हो सके माल भारत में ख़रीदा जाये। भारत सरकार ने भी इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था (यद्यपि विलायत के कारख़ाने दारों की ओर से भारत मंत्री पर ज़ोर डाला जा रहा है कि वह फिर विलायत के कारख़ानेदारों को अपना प्रेम पात्र बनाये। यदि गवर्नमेंट इस प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणित करले, तो इस भाग के नीचे निकास में बहुत कमी हो जायेगी। स्टोर्स डिपार्टमेंट (जो कि एक कमेटी की रिपोर्ट पर बनाया जाना तजवीज़ हुआ है) इस सम्बन्ध में काफ़ी सफलता प्राप्त कर सकता है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इण्डियन हाईकमिश्नर का कुल क्रय-विक्रय भी इस के हाथ से निकले और कुल बोलियां भारत में भेज कर यहां स्वकृति लेने की प्रथा चलाई जाये।

(ख) दूसरी शिकायत इस सम्बन्ध में यह है कि जब अन्य देशों में चीज़ें सस्ते दामों पर मिल सकती हैं, तो धींगाधींगी इंगलैंड में सौदा करके भारत के बोझ को न बढ़ाया जाये। गतवर्ष (१६२१) इस विषय में भारत को बहुत हानि सहन करनी पड़ी है। और अन्त में गवर्नमेंट को भी असेम्बली के ज़ोर देने पर इस सिद्धान्त को अन्तिम विदाई देने का निर्णय करना पड़ा है। इसका इलाज यही है कि सारे सौदे भारत में भेजे जायें और यहीं उनका निर्णय हो और हाई कमिश्नर को सौदा करने का कोई अधिकार न दिया जाये।

यदि गवर्नमेंट के विविध विभागों में सुधार आरम्भ किये जावें तो यह वार्षिक निकास बहुत कम हो जायेगा। और भारत इस रुपये को यहां ही रख कर (कुछ तो गवर्नमेंट का ख़र्च कम हो जाने और फलतः टैक्सों के कम हो जाने से और कुछ इन रक़मों को बजाय इंगलैंड के व्यापारियों और साहूकारों को देने के भारतीय व्यापारियों और साहूकारों को देने से) अपनी औद्योगिक उन्नति कर सकेगा।



भारत की आर्थिक नीति

जिस समय ब्राईट और काब्डन की हलचल से इंगलैंड में मुक्तव्यापार की अनुमति मिली और आयात और निर्यात व्यापार पर, वार्षिक आय की दृष्टि से, विशेष चुंगी लगाई जाने लगी, तो अनुमान किया जाता था कि कुछ ही दिनों में अखिल संसार मुक्त-व्यापार का पक्षपाती हो जायेगा। बात यह थी कि जिन युक्तियों पर इंगलैण्ड में संरक्षणार्थ चुंगी के विरुद्ध आवाज़ उठाई जाती थी उन के सम्बन्ध में लोगों का विचार था कि वे संसार के हरएक समुदाय और काल के लिये उपयोगी हैं। अर्थशास्त्र के पण्डितों का बनाया हुआ क़ानून भौतिकशास्त्र के बनाये हुए नियमों की तरह त्रिकाल में सत्य समझा जाता था।

परन्तु मुक्त-व्यापार के पक्षपातियों के आश्चर्य की कोई सीमा न रही जब कुछ समय के पश्चात ही फ्रांस, जर्मनी, अमरिका और अन्य बड़े २ राष्ट्रों ने इंगलैण्ड के अर्थशास्त्रियों के आन्दोलन करने पर भी संरक्षणार्थ चुंगी लगाना आरम्भ करदी। लिस्ट ने जर्मनी में संरक्षणार्थ चुंगी के पक्ष में राष्ट्रीय अर्थशास्त्र लिखकर अर्थशास्त्र में एक नवीन प्रश्न को उठाया। और उस समय से उन्होंने यह अनुभव करना आरम्भ किया कि सब स्थानों की आर्थिक आवश्यकतायें समान नहीं और इसलिये सार्वभौमिक आर्थिक नियम बनाना ख़तरे से खाली नहीं। इंगलैण्ड के अर्थ-शास्त्रवेत्ता फिर भी अपनी पुरानी नीति पर डटे रहे। और यद्यपि संरक्षणार्थ चुंगियों की प्रणाली संसारभर में फैल गई, परन्तु इंगलैण्ड ने मुक्त-व्यापार की नीति को नहीं छोड़ा। इस सम्बन्ध में एक बात स्मरण रखनी चाहिये कि यद्यपि इंगलैण्ड ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से मुक्तव्यापार की नीति को क्रियात्मक रूप दिया था, परन्तु उसके पहिले डेढ़ सौ वर्ष तक इंगलैण्ड ने भी

संरक्षणार्थ चुंगी द्वारा ही अपने व्यापार को बढ़ाया था। इस संरक्षण की नीति ने भारतीय उद्योगधन्दों का सर्वनाश किया और इसी नीति ने संयुक्त-राज्य अमेरीका के साथ फूट का बीज बोया। कहा जाता है कि यदि इंगलैण्ड इस नीति पर न चलता, तो असम्भव था कि भारत से गये हुए सूती कपड़े का वह मुक़ाबला कर अपने उद्योगधन्दे को उन्नत कर सकता। सारांश में इंगलैण्ड ने डेढ़ सौ वर्ष तक इस नीति से पूर्ण लाभ उठाया। और इस नीति ने उसे इस योग्य बनाया कि वह उन्नीसवीं सदी के मध्य में संसार को खुला चैलंज दे सके और व्यापार में किसी प्रकार की अड़चन न डाले।

अब बाक़ी जातियों के लिये इस बात की आवश्यकता थी कि वे व्यवसायिक उन्नति करें। इसलिये उन्होंने वही उपाय अंगीकार किये जो इंगलैण्ड ने डेढ़ सौ वर्ष पहिले अंगीकृत किये थे। परन्तु वहां के अर्थशास्त्रवेत्ता (पिछली अवस्थाओं को पीछे फेंक और अपने नये घड़े हुए नियमों को लोगों के सन्मुख रख कर) संसार भर में इसी का प्रचार करते रहे कि व्यापार के लिये सर्वत्र 'मुक्त-द्वार' होना चाहिये। बात यह थी कि इंगलैंड के उद्योगधन्दों ने इतनी उन्नति कर ली थी कि अब उन्हें किसी और देश के मुक़ाबले का भय नहीं था। परन्तु धीरे २ दूसरे देशों ने भी व्यवसाय-क्षेत्र में क़दम बढ़ाना आरम्भ किया, जिसका परिणाम यह निकला कि वे कुछ उद्योगधन्दों में इंगलैण्ड का मुक़ाबला करने के योग्य होगये। अब इंगलैण्ड के कारखानेदार चिन्ता में पड़े और अर्थशास्त्रवेत्ताओं ने तत्कालीन परिस्थिति को समझा। इंगलैण्ड में भी संरक्षणार्थ चुंगी के पक्ष में, उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में, आन्दोलन होने लगा। ज्यों २ मुक़ाबला अधिक होता गया यह आन्दोलन भी बढ़ता गया। यहां तक कि श्री० चेम्बरलेन ने ब्रिटिश साम्राज्य के विविध देशों को विशेष स्वत्व देने की आड़ में संरक्षण का एक नया तरीक़ा ढूंढ निकाला। युद्ध से पहिले तो इनकी कुछ

सुनाई न हुई। परन्तु युद्धकाल में पिछली सब युक्तियां भुलादी गईं और कुछ युद्ध की बाधाओं से और कुछ संरक्षण के विचार से इस नई नीति का लोग समर्थन करने लगे। आजकल यह प्रश्न अर्थशास्त्रवेत्ताओं के हाथ से निकलकर राजनीतिज्ञों के हाथ में चला गया है।

पुराने अर्थशास्त्रवेत्ताओं का यह विचार कि अर्थशास्त्रके सिद्धान्त सर्वत्र समान रूपसे लागु हो सकते हैं भारतके लिये यह सिद्धांत बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ है। जब इंगलैण्ड का कल्याण इस बात में था कि बाहर से वस्तुएं आनी बन्द करदी जातीं, तब राजनीतिक हेतुओं के कारण उस ने इस नीति का आश्रय लिया कि भारतीय उद्योगधन्दों को नष्ट कर दिया जाये। जब इंगलैण्ड में उद्योगधन्दे उन्नत होगये और मुक्तव्यापार का सिद्धांत उपयोगी दिखाई दिया, तो भारत को भी उस में सम्मिलित कर लिया गया। यद्यपि अखिल संसार, अपनी व्यवसायिक उन्नति के लिये, संरक्षणार्थ चुंगी निःसंकोच से लगाता हो परन्तु भारत को इस बात की आज्ञा न मिली। अब जब फिर संरक्षणार्थ चुंगी का प्रश्न सन्मुख आरहा है, तो चिन्ह दिखाई देरहे हैं कि सब भारतीयों ने प्रयत्न न किया तो भारत को उसी मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा जो साम्राज्य के लिये उपयोगी होगा, चाहे उस में भारत को हानि हो या लाभ।

भारतीय राजनीतिज्ञों का सर्वदा यह मत रहा है कि भारत के उद्योगधन्दों को संरक्षण की आवश्यकता है। यदि भारतीयों का गवर्नमेन्ट की आर्थिक नीति के बनाने में कुछ हाथ होता, तो न भारत के उद्योगधन्दे इस प्रकार नष्ट होते और न आर्थिक उन्नतिमें इस प्रकार रुकावटें पैदा होतीं। रानाडे, दादाभाई, गोखले, दत्त और जोशी सब इस बात के लिये चिल्लाते रहे कि भारतीयों को यह अधिकार होना चाहिये कि वे अपने उद्योगधन्दों को बेरोकटोक चला सकें और इसके लिये आयात व्यापार पर चुंगी

लगाने की उसे पूर्ण स्वतन्त्रता हो। उनकी तो न सुनी गई। परन्तु इंगलैण्ड का स्वार्थ यह चाहता है कि साम्राज्य उस को अपनी मातृभूमि समझकर उसके उद्योगधन्दों का संरक्षण करे। इंगलैंड भी अपनी 'मुक्तद्वार' की नीति छोड़ बैठा है और जर्मन माल के मुक़ाबले में उन उद्योगधन्दों के संरक्षण का प्रबन्ध किया गया है जो स्थापित होरहे हैं और दूसरे देशों की पैदावार से मुक़ाबला नहीं कर सकते। इसलिये इस बात के सम्बन्ध में किसी को संदेह नहीं रहा कि सिद्धान्त की दृष्टि से संरक्षण हानिकारक है। इस में भी सन्देह नहीं कि कुछ अवस्थाओं में इसकी आवश्यकता भी है।

जब ब्रिटेन के लिये संरक्षणार्थ चुंगियों की आवश्यकता है, तो अनिवार्य रूप से ब्रिटिश साम्राज्य के विविध भागों के लिये भी संरक्षण की आवश्यकता है। यह प्रश्न अन्य देशों की अपेक्षा साम्राज्य के विविध देशों को परस्पर के व्यापार पर कम चुंगी लगाना चाहिये, स्वयम् संरक्षण के सिद्धान्त को स्वीकार करता है जैसा कि पहिले कहा गया है कि प्रायः सब भारतीय राजनीतिज्ञ इस बात पर ज़ोर देते रहे हैं कि भारत में आयात व्यापार पर चुंगी लगाकर भारतीय उद्योगधन्दों को आगे बढ़ने का अवसर दिया जाये। बात यह कि भारत ने मशीनों का उपयोग अभी २ आरम्भ किया है। इस कारण हमारी अपनी बनी हुई वस्तुएं अभी महंगी पड़ती हैं, यद्यपि कुछ दिनों में सस्ती तैयार होने लग जायेंगी क्योंकि अन्य देशों के उद्योगधन्दे चिरकाल से स्थापित हुए हैं और ज़माने ने जो उन्नति के रहस्य उन्हें सिखा दिये हैं, वे हम शनैः शनैः सीख लेंगे। यदि संरक्षणार्थ चुंगी लग जाये, तो उनके मुक़ाबले से हम मुक्त होकर अपने उद्योगधन्दों को उन्नत करना आरम्भ करेंगे और अल्पकाल में हम उनका मुक़ाबला करने के योग्य हो जायँगे। संसार के सब देशों ने इस प्रकार उन्नति की है और भारत के लिये भी यही उन्नति का साधन है। भारत में एक और बड़ा कारण यह है कि यहां के लोग प्रायः खेती करते हैं। उद्योगधन्दों

की अपेक्षा खेती में मनुष्य कम कमा सकता है। इसीलिये भारत में प्रति मनुष्य आय कम है। इस आय को बढ़ाने का सब से सरल उपाय भारत में उद्योगधन्दों को चलाना है। यदि हमारी आय बढ़ गई, तो हम आये दिन अकालों का भी मुक़ाबला कर सकेंगे, क्योंकि भारत में अनाज की कमी के कारण अकाल नहीं पड़ता प्रत्युत अनाज खरीदने के लिये रुपया न होने से। सारांश यह है कि भारत को संरक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है।

एक बात स्मरणीय है। कि जब हम भारत के लिये संरक्षणार्थ चुंगी की मांग करते हैं, तो हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि हम भारत में ही सब कुछ पैदा करें और अन्य देशों से व्यापार बन्द कर दें। हम उन उद्योगधन्दों के लिये संरक्षण की मांग करते हैं जो भारतीय परिस्थिति में सफल हो सकते हैं या जो हर एक जाति के अस्तित्व के लिये आवश्यक हैं। संसार का कोई देश भी इस योग्य नहीं कि वह संसार की सब वस्तुओं को पैदा कर सके। इस लिये उचित है कि विविध देश परस्पर व्यापार कर के वे वस्तुएं प्राप्त करें जो वे स्वयम मुनाफ़े पर नहीं पैदा कर सकते या जिन में उन को बाक़ी वस्तुओं की अपेक्षा कम लाभ है। कहा जायेगा कि भारत में कदाचित ही इतनी योग्यता हो कि वह सब वस्तुएं पैदा कर सके। इस बात पर मत प्रगट करना व्यर्थ है। परन्तु यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि हर एक व्यवसाय में समान लाभ नहीं हो सकता। यदि रुई के व्यवसाय में १५ प्रति सैंकड़ा लाभ होता है और मशीन बनाने में ५ प्रति सैंकड़ा, तो उचित हैं कि हम अमरीका, जर्मनी या इंगलैंड से मशीनें मंगायें और स्वयम कपड़ा बुनने का काम करें। सारांश में संरक्षणार्थ चुंगी का अभिप्राय सब उद्योगधन्दों को चलाना नहीं प्रत्युत उपयोगी और आवश्यक उद्योगधन्दों में उन्नति करना है।

परन्तु ब्रिटिश साम्राज्य के साथ विशेष बर्ताव का प्रश्न हमारे सन्मुख है। १९०४ में लार्ड कर्ज़न ने ब्रिटिश सरकार को

लिखा था कि भारत को विशेष बर्ताव से बहुत कम लाभ होगा; भारत को उस से बहुत हानि पहुंचेगी। लार्ड कर्ज़न ने स्पष्ट कह दिया था कि भारत की वाणिज्य-नीति का निर्णय करने में भारत की अपेक्षा इंगलैंड के व्यापारियों की बात अधिक मानी जाती है। फिर १६०८ में लार्ड कर्ज़न ने लार्ड सभा में अपने मत को और भी स्पष्ट शब्दों में प्रगट किया था और कह ही डाला था कि भारत-मन्त्री भारत की वाणिज्य-नीति का निर्णय करते समय इंगलैंड के कल्याण का अधिक ध्यान रखता है और भारत के कल्याण का वह कभी ही विचार करता है। परन्तु दुर्दैव से १६१२ में एक भारतीय मेम्बर ने इस प्रश्न को कौंसल में उठाया और अन्त में उस को अपना प्रस्ताव लौटाना पड़ा। युद्ध के पश्चात पुरानी इम्पीरियल कौंसल का सब से अन्तिम काम इस प्रश्न पर विचार करना था। एक कमेटी ने यह फ़ैसला किया कि यह प्रश्न विचारणीय है और एक कमीशन द्वारा इस का निर्णय होना चाहिये। आर्थिक कमीशन अब अपनी रिपोर्ट शीघ्र ही प्रकाशित करनेवाली है। कमीशन के प्रधान सर इब्राहीमरहमतुल्ला हैं।

विशेष बर्ताव के विषय में यह कहना अनुचित न होगा कि यदि भारत के उद्योगधन्दों का संरक्षण करके फिर साम्राज्य के विविध देशों के साथ विशेष व्यवहार करना सम्भव हो, तो इस में किसी को आपत्ति न होगी। परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या ऐसा करना सम्भव होगा? उन उद्योगधन्दों के लिये साम्राज्य के माल पर कम चुंगी लगाना हानिकारक होगा, जिन्हें हम भारत में उन्नत करना है। यदि उन वस्तुओं के आयात पर जो अन्य देशों से आती है, चुंगी में साम्राज्य को कुछ रिआयत की जाये तो यह कोई बुरी बात नहीं होगी। परन्तु पहले अन्तर्जातीय व्यापार की एक ओर गांठ पड़ जाती है। यदि हम ने दूसरे देशों पर अधिक चुंगी लगाई, तो क्या वे हमारे निर्यात पर अपने २ देश में चुंगी न लगायेंगे और चुंगी से हमारे व्यापार को हानि न पहुंचेगी।

हमारे अन्तर्जातीय व्यापार का अधिकांश भाग साम्राज्य से बाहिर के देशों के साथ है। इस दृष्टि से बहुत कुछ हानि पहुंचने की सम्भावना है। सारांश में यह प्रश्न बहुत ही विचारणीय है। जो कोई स्कीम इस सम्बन्ध में हमारे सन्मुख रखी जाये, उस में इन अत्यन्त आवश्यक प्रश्नोंपर विचारकर लेना ज़रूरी है। परन्तु मामला यहीं खतम नहीं होता। एक राजनीतिक प्रश्न भी उपस्थित होता है कि साम्राज्य के साथ खास व्यवहार करना और उसे व्यापारिक सुभीते और रिआयतें देना राष्ट्रीय दृष्टि से लाभकारी है या नहीं। इसलिये इस से पहिले कि इस प्रश्न का निर्णय किया जाये, भारत को आर्थिक स्वतंत्रता मिलना आवश्यक है। यदि स्वतन्त्र भारत साम्राज्य को रिआयतें करना भी चाहे, तो किसी को आपत्ति न होगी। परन्तु यदि इंगलैण्ड का मंत्रिमंडल, भारत के नाम पर, साम्राज्य के साथ विशेष व्यवहार करना चाहे तो यह बलात्कार के सिवाय और कुछ नहीं होगा। इसलिये प्रश्न पर निर्णय होने से पूर्व लेजिसलेटिव असेम्बली और कौंसिल आफ़ स्टेट को स्वतन्त्र विचार करने का अवसर मिलना चाहिये।

इस प्रश्न का राजनीतिक पहलु अभी समाप्त नहीं होता। सर टुपर लेथब्रिज ने भारत के इस "साम्राज्य में परस्पर विशेष व्यवहार" के सिद्धान्तको अंगीकृत करनेके लिये एक और युक्ति दी है कि इसके द्वारा भारतवासी साम्राज्यान्तगत देशोंसे समानधिकार ले सकेंगे। यदि ऊपर लिखे महाशय अपने प्रस्ताव पर ज़रा ध्यान देते, तो उन्हें मालूम हो जाता कि यह तो उन अधिकारों को खरीदने की बात हो जायगी जिन्हें भारतवासी वैसे ही मांग रहे हैं। आप कदाचित इस बात को भूलगये कि इन अधिकारों के लिये प्रतिफल देने की सिफ़ारिश करना भारतवासियों को अपमानित करना है। माननीय श्रीनिवास शास्त्री ने लंदन में किसी समाचारपत्र के संवाददाता से कहा था कि यदि आस्ट्रेलिया, कैनेडा और अफ्रीका हमारे सा समानता का वर्ताव नहीं करेंगे

तो किसी ऐसी नौ सेना के लिये ख़र्च देना जो उनकी रक्षा के काम में आये, भारी अपमान होगा। जब तक साम्राज्य के बाक़ी हिस्से भारतवासियों के साथ समान व्यवहार करने को तैयार नहीं, तब तक उनके साथ किसी प्रकार की रिआयत करना भारी भूल होगी।

इस विषय को समाप्त करने से पहिले हम संक्षेप से उन युक्तियों को यहां देना चाहते हैं जो संरक्षणार्थ चुंगी के पक्ष में और उसके विरुद्ध दी जाती है। देशके उद्योगधन्दोंका संरक्षण कई प्रकार से हो सकता है। परन्तु सर्वप्रिय उपाय चुंगी लगाने का है ; क्योंकि ऐसा करने से बाहर से आनेवाली औद्योगिक वस्तुओं के आयात में कमी होती है, उनके दाम बढ़ जाते हैं और इस प्रकार ख़रीदारों का ध्यान उनसे हट कर अपने देश में बननेवाली वस्तुओं की ओर चला जाता है। अपने देश के कारख़ानेदारों को अवसर मिल जाता है, जिससे वे लाभ उठा सकें।

सब से बढ़ कर दृढ़ युक्ति, जो संरक्षण के पक्ष में दी जाती है, और जिसका समर्थन मिल और मारशल जैसे मुक्तव्यापार के पक्षपातियों ने भी किया है वह यह है कि किसी भी देश में नये चलाये हुए उद्योगधन्दे कभी उन्नत नहीं हो सकते यदि उनको प्रारम्भिक अवस्था में ही पुराने उद्योगधन्दों के साथ मुक़ाबला करना पड़े। दृष्टान्त के लिये यदि भारत में कागज़, दियासिलाई और फ़ौलाद बनाने के कारख़ाने अब खोले जायें, तो कई वर्षों तक ख़र्च अधिक होने, अनुभव की कमी और छोटे पैमाने पर जारी करने के कारण, उन कारख़ानों में बननेवाली वस्तुएं बहुत महंगी पड़ेंगी। और उन उद्योगधन्दों के लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा कि वे इंगलैंड, अमेरिका और जर्मनी के पच्चास २ और सौ २ वर्ष के पुराने कारख़ानों के साथ मंडी में मुक़ाबला कर सकें। यह मुक़ाबला बराबरी का मुक़ाबला नहीं होगा। यह तो एक नन्हे दुधमुए बच्चे का एक हृष्ट पुष्ट पहलवान के साथ कुश्ती होगी। इस लिए प्रारम्भिक वर्षों में अन्तर्जातीय मुक़ाबले के

हानिकारक प्रभाव से स्वदेशी उद्योगधन्दों की रक्षा करनी आवश्यक होगी। यह संरक्षण कितना ज़रूरी है, इस बात से पता लगेगा कि व्यवसाय के इतिहास में कई ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं जिन में उन्नत देशों के कारख़ानादारों ने दूसरे देशों के नये चलाये हुए कारख़ानों को उनकी प्रारम्भिक अवस्था में ही, हर साध्य उपायों से, कुचलने का प्रयत्न किया। लागत से कम दाम पर बेचना उद्योगधन्दों को कुचलने का साधारण हथियार है। अंगरेज़ीमें इस उपाय को 'डम्पिङ्ग' कहते हैं संरक्षणार्थ चुंगी लगाने से यह भय दूर होजाता है। उदाहरण के लिये एक गज़ कपड़ा बनाने का ख़र्च मुनाफ़ा शामिल करके चार आने होता है और किराया जमा करके वह साढ़े चार आने के हिसाब से भारत में बिकता है। परन्तु भारत के कारख़ानों में बनाने की लागत ही साढ़े पांच आने की गज़ पड़ती है। इस से स्पष्ट है कि मुक्तव्यापार के होने पर स्वदेशी कपड़े का लंकाशायर के कपड़े के मुक़ाबले में बिकना असम्भव है। अब यदि डेढ़ आना फ़ी गज़ बाहर के कपड़े पर चुंगी लगाई जाये, तो उस का दाम बाज़ार में छः आने फ़ी गज़ हो जायेगा और दाम पर न केवल भारत के कपड़े की बिक्री ही आरम्भ हो जायगी प्रत्युत दो पैसे गज़ प्रति ख़ालिस मुनाफ़ा कारख़ानेदारों को बच रहेगा। कपड़े का व्यवसाय एक लाभदायक व्यवसाय हो जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि नये कारख़ाने खुल जायेंगे, पूंजी में वृद्धि और व्यवसाय में बहुत उन्नति होगी और अन्त में दाम भी कम हो जायेगा।

इस लिये संरक्षण के पक्षपातियों की यह मांग है कि कम से कम नये चलाये हुए कारख़ानों का संरक्षण कुछ समय के लिये अवश्य होना चाहिए।

दूसरी युक्तियां जो संरक्षण के पक्ष में दी जाती हैं वह संक्षेप से ये हैं कि इस से देश के उद्योगधन्दों की संख्या में वृद्धि हो जायगी, नये २ आजीविक के साधन निकल आयेंगे ? और व्यव-

साथ कुशल कारीगरों की संख्या बढ़ जायेगी। इस प्रकार आजकल वर्षा के न होने या अनावृष्टि से देश भर में भयानक अकाल पड़ जाता है। इसका कारण अधिकतर यह है कि भारत में ३/४ से अधिक जनसंख्या का निर्वाह केवल खेती पर है। संरक्षण से अगणित उद्योगधन्दों की उन्नति होगी और जनसंख्या का एक बड़ा भाग खेती से हटकर उद्योगधन्दों में लग जायेगा। इस से अकाल का प्रभावक्षेत्र कम हो जायेगा। आजकल देश में पढ़े लिखे आदमियों की जो भरमार है और जो सरकारी नौकरियों के लिये रात दिन एक करते हैं, इन के लिए नये आजीविका के साधन निकल आयेंगे।

इन युक्तियों पर यह आक्षेप किया जाता है कि संरक्षणार्थ चुंगी से देश के उद्योगधन्दों का संरक्षण तभी होसकता है जब वस्तुओं के दाम बढ़ें जैसा कि ऊपर दिए हुए दृष्टान्त से स्पष्ट है। परन्तु भारतवासी पहिले ही बहुत निर्धन हैं और वस्तुएं महंगी हैं। इस पर और अधिक महंगी निर्धन और मध्यम श्रेणी वालों की रही सही कमर तोड़ देगी। भारतवासी अपने रहन सहन की परिपाटी को उन्नत कर रहे हैं और निर्धन लोग भी पहिले से अधिक सुखी हैं। महंगी का परिणाम यह होगा कि वे पुरानी अवस्था पर फिर विवश होकर आजायेंगे।

नये चले हुए उद्योगधन्दों का संरक्षण अस्थायी रूप से तो आवश्यक है। परन्तु भारत में आशंका है कि कहीं अस्थायी संरक्षण स्थायी रूप धारण न करले। भारत सरकार कौंसल के आगे उत्तरदायी नहीं और यहां के पूंजीपति और श्रीमन्तवर्ग अन्य देशों के पूंजीपतियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हैं। इसलिये जब एक बार संरक्षण का सिद्धांत सरकार ने मान लिया, तो वे सरकार को बाध्य करेंगे कि कोई भी उद्योगधन्दे उसके प्रभावक्षेत्र से बाहर न रहें। दूसरे देशों का अनुभव भी यही बतलाता है।

हमारे देश की औद्योगिक उन्नति प्रायः सब की सब विदेशी पूंजी और बुद्धिबल से हुई है। कपड़े के व्यवसाय को छोड़ कर कोई भी व्यवसाय ऐसा नहीं है जिसे हम इस समय खालिस स्वदेशी कह सकें। हमारे कारखाने अंगरेज़ों और विदेशी लोगों के हाथ में हैं। इस लिए यदि संरक्षण की नीति अंगीकृत की गई, तो इसका लाभ विदेशियों को होगा। परन्तु इस से भी हानिकारक बात यह है कि बाहर के लोग भारत में संरक्षणार्थ चुंगी लग जाने के पश्चात बोरिया बिस्तर उठा कर डेरा आ लगायेंगे। कच्चे माल और श्रम की कमी यहां नहीं है। पूंजी और बुद्धिबल उनके पास है ही। इस का परिणाम यह निकलेगा कि हम अभी सोच ही रहे होंगे कि इतने में बाक़ी उद्योगधन्दे भी उनके हाथ चले जायेंगे और वे हमारे ही श्रम और कच्चे माल से, हमारे अपने ही देश की चारदीवारी में, स्वदेशी कारखानों के साथ मुक़ाबला आरम्भ करके उनको नष्ट कर देंगे। इस लिये जब तक भारतको आनिमंत्रित अतिथियों को बाहर रखने का अधिकार साथ २ नहीं मिलता, संरक्षणार्थ चुंगी लगाने का कुछ लाभ नहीं होगा। मुक्तव्यापार और संरक्षण के सिद्धांतों पर हमने यहां विचार नहीं किया। हमने ऊपर केवल भारत के लिये संरक्षण के पक्ष में जो युक्तियां दी जाती हैं उनका वर्णन किया है। यह हम पाठकों पर छोड़ते हैं कि वे इन युक्तियों के आधार पर क्या मत स्थिर करते हैं।



देहाती कर्ज़

भारत की ६६ प्रति सैंकड़ा कृषि प्रधान जन संख्या में से २२ प्रति सैंकड़ा बड़े २ ज़िमींदारों और १२ फ़ीसदी किसान मज़दूरों को छोड़कर ३५ प्रति सैंकड़ा छोटे २ भूमिपति हैं। इन में से बहुतसे सदा कर्ज़ के बोझ के नीचे दबे रहते हैं। इन बेचारों को बेवश और अपढ़ होने के कारण कर्ज़ पर बहुत अधिक सूद देना पड़ता है। एक बार भी यदि वे साहुकार के चंगुल में फंस जायें, फिर उनसे पीछा छुड़ाना कठिन होजाता है। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि औसत दर्जे के ज़िमींदारों का संसारभर में यही हाल है। अभी बहुत वर्ष नहीं गुज़रे जब जर्मनी, इटली, डेन्मार्क आदि देशों के ज़िमींदारों की अवस्था बहुत शोचनीय थी और वे सदा ऋणी रहते थे। यह ज़रूरी नहीं कि किसान केवल तत्कालिक आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये ऋण लें। कई बार वे ऋण इसलिये भी लेते हैं कि उनको ऋण लेने में सुभीता होता है। क्योंकि उनकी महाजन के यहां साख है, यह देखा गया है कि ज्यों २ ज़िमींदार की ज़मीन की क़ीमत या आय में वृद्धि होती जाती है, त्यों २ वह ऋण अधिक लेता जाता है।

ज़िमींदार के ऋणी होने के कई कारण हैं। एक तो वह रीतिरिवाज़ों को पूरा करने के लिये बहुत फ़िज़ूलख़र्ची करता है आबादी के बढ़ने से निकृष्ट भूमि पर भी खेती होने लगी है। ऐसी भूमि पर खेती करनेवाला कभी सुखसम्पन्न नहीं हो सकता। नित्य होनेवाले अकाल हर वर्ष हज़ारों नये किसानों को महाजन और साहुकारों के पंजे में फंसा देते हैं और जो आगे ही ऋणी थे उन पर और बोझ डालने में सहायक होते हैं। गत कुछ वर्षों में ज़मीन की कीमत और मांग में बहुत वृद्धि हुई है। इससे न केवल किसान की साख और कर्ज़ लेने की सामर्थ्य बढ़ गई है प्रत्युत

महाजन लोग भी जिनके पास फ़ालतु रुपया काफ़ी है, ज़मीन लेने के बहुत इच्छुक होगये हैं। ऋणों के परिमाण में वृद्धि होना स्वाभाविक भी है यदि एक पक्ष ज़मीन लेने का इच्छुक हो और दूसरा, जिस के पास ज़मीन हो, निराकारण ही ऋण लेने की आदत में हो दीवानी अदालत ने भी लोगों को ऋणी बनाने में बहुत सहायता दी है। वह दूसरी पार्टी का बिना बयान सुने और पूछताछ किये ही कि कितना ऋण लिया गया था एक पार्टी के पक्ष में फ़ैसला दे देती है। यह बात सब को मालूम है कि साहुकार लोग पचास रुपये देकर सौ रुपये का स्टाम्प लिखवा लेते हैं, जो सूद दर सूद और सवाये ड्योढ़े के हिसाब से एक ही साल में बढ़कर कई सौ हो जाता है। दक्षिण के देहाती लोगों ने १८८० में जो बड़े फ़साद किये थे, जिन की पीछे जांच की गई थी, उन से ऊपर लिखी बात का पूरी तरह समर्थन होता है। परन्तु हमारे मतानुसार भारतीय किसान का ऋणी होने का कारण उस की ग़रीबी है। भारतीय किसान जैसा परिश्रमी किसान संसार भर में नहीं मिलेगा। दिन-रात काम में वह एक कर देते हैं। परिवार के सब आदमी उस को काम में सहायता देते हैं। यदि इतनी दौड़ धूप करने पर भी साल के बाद फ़सल आने से उस को वर्ष भर खाने को नहीं मिलता तो इस में उस का क्या दोष? मामूली ज़रूरतों के लिये साहुकारों के पास दौड़े जाना इस बात को स्पष्ट करता है कि उस के पास पूंजी का बिलकुल अभाव है। फ़िज़ूलखर्ची का दोष कुछ हद तक ठीक है। परन्तु इस में भी अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। संसार में कौनसा ऐसा देश है जहां विवाह आदि के अवसर पर असाधारण खर्च नहीं किया जाता? इस लिये हमारी राय में दरिद्रता ही भारतीय किसानों के दुःखों का मूलकारण है। और इस ग़रीबी की तह में, जैसा कि विख्यात लेखक और अर्थशास्त्र-नेता रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है भारतसरकार की लगान ज़मीन की नीति है। संसार के किसी देश में किसी भी धन्दे पर इतना भारी

टैक्स नहीं लगाया जाता जितना कि भारत में ज़मीन पर। सर-कारी बयान के अनुसार ख़ालिस बचत का ५० प्रति सैंकड़ा भाग गवर्नमेंट लेती है। परन्तु वह बयान बिलकुल ठीक नहीं, क्योंकि हमारे पास इस परिणाम पर पहुंचने के काफ़ी कारण हैं कि ख़ालिस बचत निकालते समय सरकारी अफ़सर बहुत कंजूसी से काम लेते हैं। उन को किसान की मेहनत और ख़र्च की कुछ परवाह नहीं होती। बन्दोबस्त अफ़सर का एक निरंकुशशासक से कुछ कम दर्जा नहीं। उस की आज्ञा क़ानून है, जिस के विरुद्ध अदालत और क़ानूनी कौंसल में अपील नहीं हो सकती। हर बीस वर्ष के पश्चात, जैसा कि पंजाब में है, नित्य नया बन्दोबस्त आरम्भ हो जाता है। और यदि इस अवधि में किसान की अवस्था सुधर जाय, तो यह भी एक दृढ़युक्ति समझी जाती है कि भविष्य में उस पर ज़मीन का लगान बढ़ाया जाये।

बन्दोबस्त के अफ़सरों और छोटे २ कर्मचारियों की रिश्वत लेने की आदत ने और ही अन्धेर मचा रखा है। इन सब बातों का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि भारत का औसत किसान आयुपर्यन्त कठोर परिश्रम करता हुआ अपनी जीवनयात्रा समाप्त करता है। आश्चर्य की यह बात नहीं कि वह ऋणी रहता है प्रत्युत यह कि वह जीवित कैसे है?

अस्तु, ये सब बातें तो हम ने यदृच्छया लिखी हैं। भारत-सरकार ने किसानों की दरिद्रता का मूलकारण छिपाने के लिये एक बनावटी महाजन का निर्माण किया है जो दिन-रात जोंक की न्याईं किसान का खून चूसता रहता है। इस के चुंगुल में लोग बुरी तरह फंसे हुए हैं; और इस से छुटकारा दिलाना सरकार ने अपना कर्त्तव्य समझ रखा है। इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये सन् १८८४ में तकावी का क़ानून पास किया गया। जिस का अभि-प्राय यह था कि खेती, कुआं खोदने या बैल लेने के लिये किसानों को सरकार की ओर से क़र्ज़ दिया जाये। ऋण चुकाने का काम किश्तों

में हुआ करे। इस नियम के अनुसार अब तक ऋण दिये जाते हैं परन्तु इससे लोगों की अवस्था कुछ नहीं सुधरी। क्योंकि ऋण लेने में अत्याचार और तहसीलदार से लेकर चपड़ासी तक के जूते चाटने की आवश्यकता और उन की रिश्वत लेने की आदत, यह सब कठिनाईयां सरकारी कर्ज़ा लेने में उठानी पड़ती हैं। जब गवर्नमेंट ने देखा कि इस उपाय से महाजन कम नहीं होते, तो १६०१ में क़ानून इन्तकाल अराज़ी पास किया। इस से महाजन तो क्या सब हिन्दू, जिन को गवर्नमेंट ने खेती करनेवाली क़ौम नहीं ठहराया, किसानों से ज़मीन नहीं ले सकते। विवश होने पर भूमिपति के पास सब से बड़ी ज़मानत उस की ज़मीन है। जब कोई महाजन उस को ऋण देता है तो उस की इच्छा ज़मीन पर अधिकार जमाने की नहीं होती। ज़मीन की ज़मानत लेने से उस को केवल हौसला होजाता है कि उस के रुपये व्यर्थ नहीं जायँगे, क्योंकि वे अच्छी ज़मानत पर दिये गये हैं। सरकार का उद्देश्य इस क़ानून को पास करने का यह था कि वह ज़मानत ही न रहे जिस पर महाजन रुपये देने को तय्यार होजाता है। इस प्रकार उस का कारोबार बन्द होजायेगा। सरकार का बयान है कि इस क़ानून को इस लिये पास किया गया है कि छोटे २ भूमिपति अपनी ज़मीनों से बेदख़ल न किये जायें। परन्तु यदि यह अभिप्राय था तो बड़े २ ज़िमींदारों को, जिन को किसान ठहराया गया है, छोटे २ किसान भूमिपतियों की ज़मीन लेने से रोकने के लिये क्यों न एक दफ़ा क़ानून में रखी गई? अन्याय यहीं बस नहीं हुआ। खेती करनेवाली जातियों के निश्चय करने में जिस पक्षपात से काम लिया गया है उसे पंजाब का हरएक हिन्दू जानता है। १९१३ में पंजाब के मेहतर, जो ईसाई होगये हैं, किसान ठहराये गये हैं। इस से अधिक धार्मिक पक्षपात का दृष्टान्त मिलना कठिन है।

खैर क़ानून इन्तक़ाल अराज़ी एक निषेधात्मक क़ानून था, जिस से किसान को बनिये से ऋण लेने के विरुद्ध उकसाया तो गया परन्तु उस को सहायता देने का प्रबन्ध कोई न हुआ। इस अवस्था में, जैसा कि इस लेख के आरम्भ में कह आये हैं, भारत-सरकार ने सहोद्योग सोसायटी या बैंक बनाने की ओर ध्यान दिया। और उस को क्रियात्मक रूप देने के लिये १६०४ में एक क़ानून पास किया। इस प्रकार की सोसायटियां पहलेपहल जर्मनी के देहाती इलाक़े में स्थापित हुईं। इनका संस्थापक प्रख्यात रायफीज़न हुआ है। इन सोसायटियों का मूल सिद्धान्त यह है कि अलहदा २ ऋण लेने की बजाय यदि एक ही जगह के रहनेवाले पांच आदमी, अपनी संयुक्त जिम्मेवारी पर, रुपया उधार पर लें, तो उनको ऋण सस्ता और अधिक मिल सकता है। इसी सिद्धांत के अनुसार रायफीज़सन ने जर्मनी में सहोद्योग सोसायटियां बनाईं। परिणाम यह हुआ कि सहोद्योग का आन्दोलन न केवल जर्मनी में प्रत्युत फ्रांस, स्विटज़रलैण्ड, इटली, डेन्मार्क आदि देशों में तेज़ी से फैल गया। और उनके किसानों को ऋण और साहुकारों के अत्याचारों से छुट्टि मिली।

भारत में भी सहोद्योग की आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। इस समय तक ३२४३६ सहोद्योग सोसायटियां देश में बन चुकी हैं। इन के मेम्बरों की संख्या ६६८३१८ और कुल कामचलाऊ पूंजी १७॥ करोड़ रुपये से ऊपर है। सोसायटी बनाने का तरीक़ा बहुत सरल है। एक ही गांव में रहनेवाले दस से अधिक लोग, जो परस्पर परिचित हों, एक निश्चित रक़म आपस में इकट्ठी करते। इस में से वे ज़रूरत पड़ने पर एक दूसरे को थोड़ा बहुत ऋण दे सकते हैं। जब आसपास के कुछ ग्रामों में इस प्रकार की सोसायटियां बन जायें तो देहात में यूनियन सोसायटी बन सकती है। अर्थात् हर एक गांव की सोसायटी एक निश्चित रक़म देकर यूनियन की मेंबर बन सकती है। इसी तरह बहुतसे यूनियन मिलकर ज़िले के मुख्य

स्थान में एक सेन्ट्रल बैंक के हिस्सेदार बन सकते हैं। सेन्ट्रल बैंक ज़रूरत पड़ने पर यूनियन को कर्ज़ देगा और गांव की सोसायटियां इस यूनियन से ऋण लेकर उसे अपने मेम्बरों को कुछ अधिक सूदपर उधार दे सकती हैं। सोसायटी या यूनियन का रुपया जमा करने का काम सेन्ट्रल बैंक कर सकता है।

हरएक प्रान्त में सरकार की ओर से एक रजिस्ट्रार सोसायटियों पर देखभाल रखने के लिये नियुक्त है। उस के अधीन असिसटेण्ट रजिस्ट्रार, इन्सपेक्टर और मुफ़्त काम करनेवाले ग़ैरसरकारी हिन्दुस्तानी हैं।

१६२४ में सर एडवर्ड मेकलेगन की अध्यक्षता में एक कमेटी बैठी थी, जिस ने भारतसरकार को कई उपयोगी सिफ़ारशें कीं। इन में से कइयों पर आचरण किया गया है। इतनी उन्नति होने पर भी यह कहना कठिन है कि सहोद्योग के आन्दोलन ने लोगों में जड़ पकड़ ली है। किसानों की निरक्षरता और अविद्या एक बड़ी भारी बाधा है। कई बार ऋण देने में अपने रिश्तेदारों और मित्रों के साथ रिआयत की जाती है और उसे लौटाने में बहुत बेपरवाही दिखाई जाती है। कई एक ग्रामों में नम्बरदार या बड़े २ ज़िमींदार सहोद्योग सोसायटी केवल इसलिये चलाते हैं कि उनका सम्बन्ध गवर्नमेन्ट से है। ऐसा करने से वे समझते हैं कि सरकारी अफ़सरों के वे कृपापात्र बन सकेंगे।

भारतीय महाजन के साथ गवर्नमेण्ट की जो ज़िद है उसको इस आन्दोलन में भी उस ने प्रगट किया है और कोशिश की गई है कि महाजन को उस में सम्मिलित होने का अवसर न दिया जाये। इस कारण महाजन सदा इस आन्दोलन को असफल बनाने की चिन्ता में रहता है। क्या ही अच्छा होता यदि यह काम प्रेम की नीति पर चलाया जाता और महाजन को भारतीय देहाती जीवन का आवश्यक अंग समझकर उसको भी इस तहरीक में सम्मिलित किया जाता और लोग उस की

सहानुभूति और पूंजी से पूर्ण लाभ उठा सकते । इस से न केवल आन्दोलन सफलता की ओर क़दम बढ़ाता प्रत्युत एक भद्र श्रेणी को, जिस का अंगरेज़ी रसम के पूर्व-भारतीय किसान के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध था, परिवर्तित अवस्था में निर्वाह का साधन मिल जाता । क्या "गुरु बिना गत नहीं और शाह बिना पत नहीं" की पंजाबी कहावत को ठीक चरितार्थ नहीं किया जासकता ।

क़ानून इन्तक़ाल अराज़ी, सहयोग सोसायटी और तकावी को पर्याप्त न समझकर भारतसरकार ने सूदखोरी का क़ानून पास किया है । इस के अनुसार मुन्सिफ़ को अधिकार है कि लिखे हुए स्टाम्प की परवाह न करते हुए असली रक़म मालुम कर के इच्छानुसार किसी रक़म की डिग्री देदे, जिसमें सूद की रक़म व निर्ख वह अपनी इच्छानुसार निश्चित करे ।

ऋणी मनुष्य को इन अधिकारों से लाभ हुआ हो या हानि इस में सन्देह नहीं कि यारों की चांदी खरी हो रही है और रिश्वत का बाज़ार गर्म है । इन सब इलाजों पर ध्यान डालते हुए हम इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि भारतीय किसान की बीमारी का इलाज भारतसरकार से नहीं हो सका । भारतीय किसान अब भी उसी तरह ऋण के बोझ के नीचे दबे जाते हैं जैसे कि वे इनको उपयोग में लाने से पहिले थे ।

वास्तविक इलाज तो यह है कि लगान को कम कर दिया जाय और पक्का बन्दोवस्त करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया जाये । इससे ज़िमींदार को आराम लेने का अवसर मिलेगा और वह दिल लगा कर काम करने लगेगा ।

गवर्नमेंट को हर साल नये बन्दोवस्त करने से बी लाख रुपये की अधिक आय होती है । आशा नहीं कि भविष्य गवर्नमेंट इस अधिक आय को छोड़ने के लिये तैयार हो । मालगुज़ारी और बन्दोबस्त पर हम पीछे लिख चुके हैं, इसलिये यहां उसको दोहराना व्यर्थ है ।

॥ इति ॥



जगत्नारायण के प्रबन्ध से 'विरजानन्द प्रेस' लाहौर में
मुद्रित हुआ।

